अंतिम जन

वर्ष-4, अंक 7, संख्या 42, जुलाई 2015

प्रधान सम्पादक
दीपंकर श्री ज्ञान

मानद सम्पादक
डॉ. राजीव रंजन गिरि

सहायक सम्पादक
वेदाभ्यास कुंडू
गीता शुक्ला
शाश्वती झालानी
पंकज चौबे

प्रबन्ध सहयोग
शुभांगी गिरधर
रीता कुमारी

आवरण
संजीव शाश्वती

रेखांकन
संजीव शाश्वती, धर्मेन्द्र सुशांत

मूल्य : ₹ 10
वार्षिक सदस्यता : ₹ 100
दो साल : ₹ 200
पाँच साल : ₹ 400

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110 002
फोन : 011-23392710 फैक्स : 011-23392706
ई-मेल : antimjangsds@gmail.com
2010gsds@gmail.com

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली-110002, की ओर से निदेशक, दीपंकर श्री ज्ञान द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रक
दीप कलर स्कैन प्रा. लि., दिल्ली-110095

इस अंक में . . .

बा पहली सत्याग्रही

गांधीजी के शब्दों में वे अपने जीवन की कल्पना बा के बिना नहीं कर सकते। बा उनके जीवन की अभिन्न अंग है और उनकी मृत्यु उनके जीवन का शून्य है जो कभी नहीं भरेगा।

राष्ट्रपिता के सत्याग्रह की शुरुआत दक्षिण अफ्रीका के उनके संघर्ष के दौरान हुई जिसे कस्तूरबा ने जमीन पर उतारने में उनका सतत सहयोग किया। इतिहास में ऐसे विरले ही उदाहरण होंगे जिसमें पति-पत्नी दोनों ने एक-दूसरे के व्यक्तित्व निर्माण एवं उसे विकसित करने का अद्‌भुत चमत्कार किया हो। वनमाला परीख जिन्होंने बा की जीवनी लिखी है उन्होंने ठीक ही उद्‌धृत किया है कि बा एवं बापू का जीवन इतना अभिन्न था कि एक के विषय में सोचने मात्र से ही दूसरे का जीवन उसमें स्वत: शामिल हो जाता है।

सत्याग्रह की शिक्षा बापू ने कस्तूरबा से ग्रहण की थी। गांधीजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में कस्तूरबा कदम-कदम पर उनके साथ खड़ी थीं। 1913 के उस कानून जिसके द्वारा ईसाई धर्म के अनुसार किये गये विवाह ही कानूनी थे शेष सभी पद्धतियों से किये गये विवाह गैर कानूनी थे। गांधीजी ने इस कानून को अवैध एवं रद्द करने का आग्रह सरकार से किया। क्योंकि इस कानून के लागू होने से हिन्दू, इस्लाम आदि धर्मों के अनुसार किये गये विवाह गैरकानूनी थे तथा ऐसे विवाह के पश्चात दम्पति पति-पत्नी नहीं रह गये थे।

बापू ने इस कानून के खिलाफ सत्याग्रह की शुरुआत की। चूँकि इस कानून से स्त्री-पुरुष दोनों प्रभावित थे। अत: यह आवश्यक था कि इस सत्याग्रह में दोनों की सहभागिता हो। कस्तूरबा बापू के इस सत्याग्रह की पहली सत्याग्रही बनी। एक ऐसी सत्याग्रही जो उस समय जेल जाने को तत्पर थी जब स्त्री के जेल जाने की कल्पना भी नहीं की जाती थी। कस्तूरबा ने अपने सत्याग्रह के दृढ़ निश्चय को भली-भाँति निभाया भी।

अंतिम जन के इस अंक में हम कस्तूरबा गांधी के जीवन को रेखांकित करने वाले आलेख प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठित कथाकार भीष्म साहनी के जन्मशती के अवसर पर हम भीष्म साहनी पर विशेष खण्ड प्रकाशित कर रहे हैं। साहनी जी की आत्मकथा का एक महत्वपूर्ण अंश और उनकी बहुचर्चित कहानी 'चीफ की दावत' के साथ उनके नाटकों पर युवा रंगकर्मी अनीश अंकुर का आलेख जरूर आपका ध्यान खींचेगा। ज्ञानपीठ सम्मान प्राप्त कोंकणी के वरिष्ठ लेखक और चिन्तक श्री रवीन्द्र केलेकर ने जब सम्मान प्राप्त किया था उस समय का उद्‌गार हम इस अंक में हम इस उम्मीद के साथ प्रकाशित कर रहे हैं कि यह भाषण आपके चिन्तन को नई दिशा देगा।

आपकी प्रतिक्रिया का हमें इंतजार रहेगा।

दीपंकर श्री ज्ञान

दीपंकर श्री ज्ञान

आपके ख़त

अच्छी पत्रिका

'अंतिम जन' पत्रिका मुझे चार वर्ष पूर्व पहली बार प्राप्त हुई थी। तब से मैं निरन्तर इस पत्रिका का अध्ययन कर रहा हूँ। विगत कुछ समय पहले पत्रिका का प्रकाशन स्थगित होने से मन में भारी निराशा उत्पन्न हुई, किन्तु एक माह पूर्व जब 'अंतिम जन' का अंक पुन: प्राप्त हुआ तो मानो सारे सन्ताप क्षण भर में दूर हो गये।

यह पत्रिका अपने आप में अद्‌भुत एवं अद्वितीय है। गांधी जी के जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर करती हुई यह पत्रिका निरन्तर प्रगति के पथ पर गतिशील रहे यही कामना है। 'अंतिम जन' का मार्च अंक प्राप्त हुआ। राष्ट्रीय शिक्षा शीर्षक के अन्तर्गत गांधीजी के विचार अत्यन्त प्रेरणादायक एवं प्रगतिशील हैं। गिरिराज किशोर, प्रो. राकेश कुमार सिन्हा, सोपान जोशी, राजकुमार आदि के लेख भी अच्छे लगे। अस्मिता मिश्र की चित्रकारी और प्रकाश मनु की लेखनी ने पत्रिका को और भी आकर्षक बना दिया। पोरबन्दर शीर्षक से पंकज चौबे जी का लेख अपने-आप में अद्वितीय लगा। इस लेख को पढ़कर ऐसा लगा मानो गांधीजी के बचपन को हम अपनी आँखों से देख रहें हो। आशा है कि यह पत्रिका निरन्तर प्रकाशित होकर जनमानस तक पहुँचती रहेगी।

डॉ. अशोकदत्त नौटियाल
अध्यापक, रा. इ. कॉ. बीरोंखाल
पौड़ी गढ़वाल (उत्तराखण्ड)

नयी तालीम

शिक्षा की कमी हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या है। शिक्षा को लेकर हम सभी सजग भी हैं। सरकार अपनी तरफ से, तो अभिभावक भी अपनी तरफ सजग दिखते हैं। हम सभी अपने बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं। परन्तु शिक्षा का प्रारूप क्या हो? यह अभी तक हमारे लिए अनसुलझा पहलू बना हुआ है। शिक्षा का हम आधुनिक से आधुनिक प्रारूप अपनाते जा रहे हैं। इससे निश्चित ही रोजगार लायक थोड़े-से बच्चे तैयार कर पा रहे हैं, परन्तु ये बच्चे देश के लिए तैयार नजर नहीं आते। इनको स्वरोजगार की जरूरी ट्रेनिंग भी हम नहीं दे पा रहे हैं। गांधीजी ने नयी तालीम जैसी शिक्षा की पद्धति की वकालत की थी। शिक्षा की यह पद्धति हम सबको जमीन से जोड़ती है। इस तरह की शिक्षा से समाज के हर तबके का विकास होगा।

'अंतिम जन' के मार्च अंक में शिक्षा पर प्रकाशित आलेख बहुत अच्छा लगा। साथ ही ज्ञानवर्धक है। इस अंक में 'गांधीजी के गुरु' गिरिराज किशोर जी का आलेख भी बहुत रोचक और ज्ञानवर्द्धक लगा। प्रो. राकेश कुमार सिन्हा जी का तकनीक पर विशेष आलेख 'प्रोद्योगिकी, उत्पादन और अर्थशास्त्र' अच्छा आलेख है। इस आलेख में कहा गया है कि 'पश्चिमी देशों ने अपने औपनिवेशिक वर्चस्व का इस्तेमाल कर तीसरी दुनिया के देशों में एक ऐसे वर्ग तैयार किया है जो दिल पर दिमाग से पूरी तरह उनका पिछलग्गू है। उनके बताये रास्ते का अन्धानुकरण करने के लिए तैयार हैं, भले ही इससे उनके अपने देश का ही शोषण क्यों न होता हो।' इस अंक का सम्पादकीय प्रधान सम्पादक महोदय की कलम से पढ़ रहा हूँ। बहुत सुन्दर और ज्ञानवर्द्धक सम्पादकीय है। बचपन के अन्तर्गत प्रकाशित कहानी 'माँ की आँखें' बहुत अच्छी लगी। प्रकाश मनु इस देश के बड़े बाल कहानीकार हैं। उनकी कहानी में बच्चों के लिए एक सन्देश होता है। 'अंतिम जन' पत्रिका में बच्चों के लिए और जगह बढ़ाने की गुंजाइश हो तो बढ़ाया जाए। मैं तो चाहता हूँ 'अंतिम जन' की तरह बच्चों के लिए भी एक विशेष पत्रिका यानी बाल पत्रिका प्रकाशित की जाए। ताकि बचपन से ही बच्चों के मन में गांधीजी के विचारों से अवगत कराया जा सके।

अमरजीत झा
ढाका, पूर्वी चम्पारण, बिहार

अर्जी

'अंतिम जन' का अप्रैल, 2015 अंक काफी अन्तराल से मिला। विश्व पुस्तक मेले के अवसर पर मैंने दिल्ली में इसकी सदस्यता ली थी। उसके बाद एक भी अंक अभी तक न मिल पाने की वजह से इस पत्रिका के भविष्य को लेकर आशंकाएँ मन में उठने लगी थीं, किन्तु पहले की तरह ही कलेवर, साज-सज्जा तथा विशिष्ट विषय-सामग्री के साथ 'अंतिम जन' का पुनदर्शन सन्तोषप्रद रहा। एक पत्रिका का अपने पाठकों के बीच इतना लम्बा अन्तराल युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। बहरहाल,

अंतिम जन की चयनित विषय-सामग्री और उनका प्रस्तुतीकरण काफी आकर्षित करता है। यह पत्रिका गांधी और गांधीवादी विचार-सामग्री से लोगों को वैचारिक खुराक तो देती है, इसके साथ रचनात्मक साहित्य भी देकर साहित्यिक पाठकों को आवश्यक पौष्टिक खुराक हो जाती है, जिसका श्रेय सम्पादक की दृष्टि को मिलनी चाहिए। अप्रैल, 2015 के मौजूदा अंक में गांधी वांग्मय से साभार प्रकाशित गांधीजी का लेख 'धर्म और हम' आज के साम्प्रदायिक हिंसायुक्त दुनिया के लिए मार्गदर्शक-सा है जो वैश्विक शान्ति बहाली के लिए आवश्यक है। अरुन्धति राय की किताब 'द डॉक्टर एण्ड द सेण्ट' के जवाब में राजमोहन गांधी द्वारा लिखा लेख 'स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय : आम्बेडकर-गांधी विमर्श' गांधी आम्बेडकर सम्बन्धों के सन्दर्भ में एक नया आयाम जोड़ता है। यह लेख तटस्थ दृष्टि से पढ़ने की माँग करता है। चिन्ता तथा स्त्री विमर्श स्तम्भ के अन्तर्गत क्रमशः परमानन्द पांचाल और क्षमा शर्मा के व्यक्त विचार भी काफी प्रभावशाली हैं। डॉ. परमानन्द पांचाल का लेख 'बच्चों के प्रति एक हिंसा' हमारी शिक्षा व्यवस्था पर एक प्रश्नचिह्न है, जिस पर गम्भीरता से सोचा जाना चाहिए। मृत्युंजय प्रभाकर और पूजा खिल्लन की कविताएँ मर्मस्पर्शी लगीं। समकालीन कविताओं पर अबूझपन होने के चाहे जितने आरोप लगते रहें किन्तु कुछ कविताएँ अपना प्रभाव दिखाने में सफल हो ही जाती हैं। इसी क्रम में डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' की बाल कहानी 'कुन्दन की वापसी' भी एक कामयाब कहानी रही तथा 'अधूरे भाषण की याद में' सम्पादकीय का जारी रहना भी जरूरी है। पत्रिका निरन्तर बनी रहे, हमारी यह चिट्ठी अर्जी है।

अजय कुमार पाण्डेय
अधिवक्ता
जिला न्यायालय परिसर, बलिया, उ.प्र.

सामाजिक सद्भाव

'अंतिम जन' पत्रिका गांधीजी के विचारों की वाहक है। यह पत्रिका समाज को वैचारिक रूप से पुष्ट करने का काम कर रही है। समाज में आज कई तरह से बदलाव आ रहा है। समाज की समस्याओं का हल और रास्ता गांधी से विचार निकल सकता है। गांधी सामाजिक सद्भाव के लिए आजीवन प्रयास करते रहे। समाज को नैतिक, राजनैतिक हर तरह से रास्ता दिखाया। गांधीजी ने देश की आजादी के लिए अहिंसक आन्दोलन की शुरुआत की और अँग्रेजों से मुक्ति दिलाकर इसको अंजाम तक पहुँचाया। यह पत्रिका गांधीजी के विचारों के साथ-साथ उनसे जुड़े विचारों को भी हमारे सामने लाती है। इससे पढ़कर हमारे विचारों में धीरे-धीरे बदलाव आ रहा है। प्रधान सम्पादक महोदय से आग्रह है गांधी विचारों से जुड़े अन्य विषयों पर भी आलेख प्रकाशित करें।

शिवमंगल प्रसाद
नालंदा, बिहार

सत्य की साधना

'अंतिम जन' पत्रिका के अप्रैल अंक में प्रकाशित गांधीजी का आलेख 'धर्म और हम' विचारणीय है। गांधीजी कहते हैं, 'हिन्दू अपने उदात्त धर्म को अस्पृश्यता के कलंक से दूषित रखेंगे तब तक वे कभी भी स्वतन्त्रता के पात्र नहीं होंगे और न उसे प्राप्त कर सकेंगे और चूँकि मैं हिन्दू धर्म को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ, इसलिए यह कलंक सहना मेरे लिए असम्भव हो गया है।' धर्म सद्भाव बढ़ाने के लिए है। प्रेम बाँटने के लिए है। गांधीजी के सचिव महादेव देसाई के बेटे नारायण देसाई ने अपने आलेख 'विवेकपूर्ण कदम बढ़ाते जाएँ' में कहा है 'विवेक केवल सत् और असत् के बीच पसन्द करने की चीज नहीं है। यह तो मामूली आदमी भी कर सकता है कि अच्छा लो और बुरा छोड़ो। विवेक की बात तो तब आती है, जो-जो अच्छा दिखता है उसमें से कोई नया निष्कर्ष निकालें। तभी सही विवेक होगा। आज देश की वर्तमान परिस्थिति को हमें विवेक से देखना होगा।' महात्मा गांधी ने आजीवन सत्य की साधना की। सत्य के बल से गुलामी से हमें मुक्त कराया। नारायण देसाई का ठीक ही कहना है कि समाज को हमें सत्य की नजर से देखने की आवश्यकता है। गांधी के विचारें से मनुष्य के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह स्थायी प्रभाव है। इसके प्रभाव से तपा मन, समाज के लिए कल्याणकारी होता है। समाज में बढ़ रहे भेद-भाव को विचारों की खुराक से दुरुस्त किया जा सकता है।

संजीव
रोहतक, हरियाणा

ससमय प्रकाशन

'अंतिम जन' पत्रिका का मार्च, अप्रैल अंक प्राप्त हुआ। आपको धन्यवाद। पत्रिका को ससमय प्रकाशित करने का प्रयास सम्पादक महोदय को करना चाहिए। वैसे पत्रिका सामयिक घटनाओं पर आधारित नहीं है। जिससे इसके ताजा और बासी होने से कोई सरोकार हो। विचार और विश्लेषण की यह पत्रिका अच्छी और सुन्दर है।

संजीव कुमार
नेहरू विहार, दिल्ली

शिक्षा का अभिप्राय

मो. क. गांधी

स्त्री–शिक्षा में भारत बहुत पिछड़ा हुआ है, यह हमें स्वीकार करना पड़ता है। इस स्वीकृति में हमारा हेतु यह कहने का नहीं है कि भारतीय स्त्रियाँ अपना फर्ज नहीं बजातीं। हमारी तो यह मान्यता है कि सम्पूर्ण बातों का विचार करते हुए जैसे भारतीय पुरुष की तुलना में दुनिया के किसी भी वर्ग का पुरुष नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार हमारी यह भी मान्यता है कि भारतीय नारी के स्तर को पहुँच पानेवाली नारियाँ संसार की अन्य स्त्रियों में अभी पैदा ही नहीं हुईं। परन्तु यह सब भारत की वर्तमान निर्बल, अधम और कंगाल परिस्थितियों में ज्यादा समय तक निभ सके ऐसा नहीं है। यह जमाना ऐसा है कि यदि कोई एक ही स्थिति में बना रहना चाहे, तो नहीं हो सकता। जो आगे बढ़ना नहीं चाहते या नहीं बढ़ते, उन्हें पिछड़ना ही होगा। यदि यह विचार सत्य है तो हम देख सकेंगे कि भारतीय पुरुषों ने भारतीय स्त्रियों को बहुत पिछड़ा हुआ रखा है। आजकल सुधार का दम्भ करने वाले अथवा खा–पीकर सुखी रहनेवाले बहुतेरे भारतीय–भले ही वे हिन्दू हों या मुसलमान, पारसी हों या ईसाई–स्त्रियों को या तो खिलौने के समान रहने देते हैं, या अपने विषय–भोग के लिए मनमाने ढंग से रखते हैं। परिणाम यह होता है कि स्वयं दुर्बल होते हैं और वैसे ही रहते हैं, तथा दुर्बल प्रजोत्पत्ति में सहायक बनकर ईश्वर या खुदा को जो मंजूर होगा सो होगा–ऐसा कहकर अधर्ममय जीवन बिताते हैं। यदि यों ही निरन्तर चलता रहा तो भारत को अँग्रेज सरकार से जितना मिलना चाहिए उतना पाने पर भी भारत अधम दशा ही में बना रहेगा। अच्छी तरह का रहन–सहन रखनेवाले सब देशों में स्त्री–पुरुषों की गणना समान होती है। यदि भारत में 50 प्रतिशत मानव प्राणी हमेशा अज्ञान दशा में और खिलौने बनकर रहे तो उससे भारत की पूँजी में कितना घाटा होगा, यह सहज ही समझा जा सकता है।

उपर्युक्त विचार फ्रांस के विद्वान श्री लॉविस ने फ्रांस बालिकाओं को जो प्रवचन दिया था उसे पढ़कर उत्पन्न हुए हैं। जैसी दशा भारतीय स्त्रियों की आज है वैसी ही फ्रांस की स्त्रियों की कुछ ही वर्ष पूर्व थी। अब फ्रांस की जनता जाग गयी है और अपने अर्द्धांग को निकम्मा नहीं रहने देना चाहती। श्री लॉविस के भाषण का सारांश हम नीचे दे रहे हैं।

बालाओं! आपको सीखने के लिए तो बहुत है। सुई और कतरनी का प्रयोग आपका काम है। घर को साफ–स्वच्छ किस प्रकार रखा जाए यह

भारतीय पुरुषों ने भारतीय स्त्रियों को बहुत पिछड़ा हुआ रखा है। आजकल सुधार का दम्भ करने वाले अथवा खा–पीकर सुखी रहनेवाले बहुतेरे भारतीय–भले ही वे हिन्दू हों या मुसलमान, पारसी हों या ईसाई–स्त्रियों को या तो खिलौने के समान रहने देते हैं, या अपने विषय–भोग के लिए मनमाने ढंग से रखते हैं।

आपको जानना है। घर की साज-सज्जा ठीक होगी तो उसकी बात बाहर भी फैलेगी और घर के समान ही गाँव भी बन जाएगा। पैसे का क्या उपयोग किया जाए यह भी आपको सीखना है। आप एक दिन माता बनेंगी। आप पर आपके बच्चों की जिम्मेदारी होगी। केवल पढ़ना-लिखना-भर सीख लेना आपके लिए बस नहीं है। अपने मन का संस्कार करना जरूरी है, क्योंकि बच्चों को सच्ची शिक्षा देनेवाली तो उनकी माता ही होती है। जैसे आपको अपना मन विकसित करना है उसी प्रकार आपके चारों ओर क्या हो रहा है, आपके देश के अलावा अन्य कौन-कौन से देश हैं, उन देशों के लोग क्या करते हैं, वे आपसे अच्छे हैं या बुरे- यह भी आपको जानना चाहिए। इतिहास और भूगोल आपको इसीलिए सिखाए जाते हैं। लड़कों के लिए जिस प्रकार की पाठशालाएँ हैं वैसी ही लड़कियों के लिए भी होनी चाहिए।

श्री लॉविस बड़े ही मीठे शब्दों में पेरिस के बड़े स्कूल की बालिकाओं के समक्ष इस प्रकार प्रवचन दिया और उन्हें सहज रूप से भान कराया कि माता-पिता के रूप में उनके क्या कर्त्तव्य हैं। दक्षिण अफ्रीका में भारतीय आबादी में लड़कियाँ तथा स्त्रियाँ एक बड़ी संख्या में हैं। हमारा निश्चित मत है कि इन दोनों को अच्छी शिक्षा की बड़ी ही जरूरत है। वह शिक्षा यद्यपि उन्हें सहज ही दी जा सकती है परन्तु यह तो तब हो सकता है जब हम खिलवाड़ करना छोड़कर अपने कर्त्तव्य को समझें। शिक्षा देते हुए भी हमें यह सोचना चाहिए कि वह किस हेतु से दी जानी चाहिए। यदि स्वार्थ के हेतु से देंगे तो उससे कोई सार नहीं निकलेगा। वह तो केवल वेश बदलने जैसा होगा।

सच्ची शिक्षा

लोग हमें कितनी ही बार कह और लिख चुके हैं कि ट्रान्सवाल में सत्याग्रह का जो संघर्ष चल रहा है, जिसे हम प्रोत्साहन दे रहे हैं तथा जिसके लिए हम अपनी कुर्बानियाँ कर रहे हैं, उसकी सारी की सारी मेहनत बेकार है। हमारे ये सलाहकार हमसे यह भी कहते हैं कि दक्षिण अफ्रीका में मुट्ठी भर भारतीय निवास करते हैं, उनके लिए ऐसा प्रयास करना ठीक नहीं लगता। और फिर किसी-न-किसी दिन भारतीयों को यह देश छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए यह सब चुनाई बालू के पाये पर की गई चुनाई जैसी मानी जाएगी।

ऐसे विचारों से हमारे अनेक पाठकों के मन में शंका उत्पन्न हो गई है। अत: इसके बारे में थोड़ा विचार करें।

ऊपर का तर्क नितान्त भ्रामक है, ऐसा हम नि:संकोच कह सकते हैं। इस प्रकार की दलील पेश करनेवाले सत्याग्रह के गम्भीर अर्थ और उसकी खूबी नहीं समझते। यह विचार कि अन्ततोगत्वा दक्षिण अफ्रीका से भारतीयों को निकलना ही पड़ेगा, कोरी निराशा का है। ऐसा होने की हमें कोई सम्भावना दिखाई नहीं देती। भारतीय समाज में थोड़ा बहुत भी सत्याग्रह हो तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि हमें यह देश छोड़ना ही पड़ेगा।

यदि देश छोड़ना पड़े, तो भी सत्याग्रह का लाभ तो मिल ही चुका होगा। सत्याग्रह इसलिए नहीं किया जाता कि उससे अधिकार मिलते हैं। हक का प्राप्त होना तो परिणाम है; सत्याग्रह परिणाम पर दृष्टि रखे बिना किया जा सकता है। अन्य प्रयासों के अन्त में वांछित फल न मिले, तो प्रयास व्यर्थ माना जाता है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति किसी को मारकर उसकी जायदाद छीन लेने का इरादा करता है और फिर उसे मार नहीं पाता अथवा जायदाद प्राप्त नहीं कर पाता, तो हाथ मलकर रह जाता है और सम्भवत: उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। सत्याग्रह में, फल प्राप्त होता है या नहीं, इसकी परवाह नहीं की जाती, क्योंकि फल न मिलने पर भी इसमें हाथ मलने की बात नहीं रहती। भले ही ट्रान्सवाल

के संघर्ष के अन्त में खूनी कानून कायम रह जाता; किन्तु जो सत्याग्रही हैं वे तो विजयी ही रहते। उनके प्रयास से समाज का नुकसान नहीं होता। यही बात दूसरे शब्दों में रखें तो कहा जा सकता है कि सत्याग्रह सच्ची शिक्षा है। हम शिक्षा अमुक उद्देश्य से–मान लीजिए कि जीविका कमाने के उद्देश्य से– लेते हैं, फिर भी सम्भव है, जीविका न मिले। शिक्षा तब भी व्यर्थ नहीं जाती। इसी प्रकार सत्य का पालन किया हो, उसके लिए दु:ख उठाया हो, और इससे हमारा मनोबल बढ़ा हो, तो यह अमूल्य शिक्षा–लाभ–कभी व्यर्थ नहीं जाती। जो सत्याग्रही हुए और रहे हैं, वे संसार के किसी भी भाग में जाकर अपने सत्याग्रह का लाभ उठा सकते हैं।

इसके सिवाय यदि सत्याग्रह के नतीजे की जाँच करें, तो वह हमेशा एक ही होता है– यानी अच्छा। जब उसका कोई परिणाम न निकले तो समझना चाहिए कि वैसा सत्याग्रह की कमजोरी के कारण नहीं, बल्कि हम सत्याग्रह में चुस्त नहीं रहते, इसलिए हुआ है।

हमारा काम

जो लोग इस समाचार पत्र के प्रकाश में लगे हुए हैं, वे गोरे हों चाहे भारतीय, उनका उद्देश्य मनुष्य मात्र की सेवा करना है। भारतीय समाज की सेवा करना गोरों और फीनिक्स में रहनेवाले भारतीयों, दोनों का पहला काम हो गया है। उसका कारण स्पष्ट है। भारतीयों के लिए तो भारतीय की सेवा उचित ही है, यदि वे उसे न करें और मनुष्य मात्र की सेवा का ढोंग करें तो वह ढोंग ही होगा, सेवा नहीं होगी। उसे सेवा नहीं कहा जा सकेगा। जो गोरे हमारे साथ हो गए हैं, वे पहले अपना धन्धा करते थे। उनके सामने गोरे समाज की सेवा करने की कोई बात नहीं थी। उनका इरादा स्वार्थमय जीवन छोड़कर परमार्थमय जीवन व्यतीत करने का था; इसलिए उन्होंने इस समाचार पत्र में सहयोग देना निश्चित किया। हमारी ऐसी ही धारणा है।

किन्तु हमारा काम केवल अखबार निकालकर बैठ रहने का नहीं है। जो लोग फीनिक्स में विचारपूर्वक रह रहे हैं उनका हेतु अपने को शिक्षित करना तथा उस शिक्षा का लाभ भारतीय जनता को देना है। इस कारण समाचारपत्र का काम करने वालों में जो लोग पढ़ाने का काम कर सकते हैं, वे अपना अमुक समय उन बच्चों की शिक्षा में लगाते हैं जिनका लालन–पालन फीनिक्स में हो रहा है। इस प्रकार का प्रबन्ध कुछ महीनों से चल रहा है। यह शिक्षा देने के लिए उन्हें कोई वेतन नहीं मिलता, वे वेतन की आशा भी नहीं रखते।

फीनिक्स में फिलहाल इतने थोड़े बच्चे हैं कि उनके लिए मदरसे की निजी इमारत बनाना आवश्यक नहीं है। श्री कोर्डिज (एक जर्मन थिज्म्योसॉफिस्ट, जो गांधी जी के प्रति प्रेम–भाव रखते थे और कुछ समय तक फीनिक्स स्कूल के व्यवस्थापक रहे थे। उनकी मृत्यु सन् 1960 में सेवाग्राम में हुई।) ने इस काम के लिए अपना मकान दे रखा है।

शिक्षा, गुजराती तथा अँग्रेजी, दोनों माध्यमों से दी जाती है और शारीरिक विकास की ओर ध्यान दिया जाता है। बच्चों में नीति की भावना का पोषण हो, इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

हमारा उद्देश्य यह है कि ऐसी शिक्षा सभी भारतीय बालकों को दी जा सके। अभी विशेषत: उन्हीं को शिक्षा देने का विचार है जो फीनिक्स में रहते हैं; क्योंकि बच्चों का व्यवहार पाठशाला में एक प्रकार का और घर में दूसरी प्रकार का रहे, तो उससे उनका हित–साधन नहीं होता।

हमारा उद्देश्य यह है कि ऐसी शिक्षा सभी भारतीय बालकों को दी जा सके। अभी विशेषत: उन्हीं को शिक्षा देने का विचार है जो फीनिक्स में रहते हैं; क्योंकि बच्चों का व्यवहार पाठशाला में एक प्रकार का और घर में दूसरी प्रकार का रहे, तो उससे उनका हित–साधन नहीं होता।

इस पाठशाला की बात जिन लोगों ने सुनी है, उनमें से कुछ लोग अपने बच्चों को फीनिक्स में रखने की माँग कर रहे हैं। किन्तु हमारे पास छात्रावास अथवा पाठशाला की इमारत की सुविधा न होने के कारण हम उनकी माँग को स्वीकार नहीं कर पाए हैं।

ऐसे मकान बनाने की सुविधा हमें दिखाई नहीं देती। उन इमारतों की बनाने के लिए पैसे की जरूरत है। इसलिए हमारे पाठकों में से जो उक्त पद्धति के अनुसार पाठशाला की स्थापना की आवश्यकता मानता हों, उन्हें चाहिए कि वे हमें अपने विचार लिख भेजें और यदि हमें उनसे पैसे की मदद मिले तो हम पाठशाला और छात्रावास बनाने के लिए तैयार हैं। उसमें होने वाले खर्च के लिए न्यासी (ट्रस्टी) नियुक्त किये जा सकते हैं, और इमारत के खर्च का सारा हिसाब प्रकाशित किया जा सकता है। यह काम बड़ा है, इसलिए हम बहुत सोच–विचार के बाद अपने पाठक–वर्ग के सामने इसे रख रहे हैं।

गांधी वांगमय के खण्ड 6 और 9 से साभार

बोन्साई संस्कृति

रवीन्द्र केलेकर

जड़ें काट कर बड़े-बड़े वृक्षों को बौना बनाने की एक कला जापानियों ने विकसित की है। नारियल का पेड़ जो गगन को छूने के लिए ऊपर तक जाता है उसे सिर्फ पाँच फुट ऊँचा इस कला के द्वारा बनाया गया मैंने देखा है। बड़ा ही सुन्दर दिखाई देता है। मगर वह नारियल नहीं दे पाता। दीवानखाने की शोभा बढ़ाने के ही काम आता है। इस कला को बोनसाई कला कहते हैं। अँग्रेजी ने हमारे देश में कई बोन्साई विद्वान, बोन्साई बुद्धिजीवी, बोनसाई लेखक और अब तो बोन्साई पाठक भी निर्मित किये हैं जो परिसंवादों की शोभा बढ़ाने के काम आते हैं। ठोस कुछ भी नहीं दे सकते।

मुझे इस बात की बड़ी खुशी है, कि कोंकणी को देश का यह सर्वोच्च साहित्यिक ज्ञानपीठ पुरस्कार अपनी माँ संस्कृत के साथ मिल रहा है। कुछ साल पहले साहित्य अकादेमी की महत्तर सदस्यता यानी फेलोशिप दी गयी थी जो साहित्यकारों की दुनिया का एक बड़ा गौरव माना जाता है। दोनों संस्थाओं ने मुझे इस काबिल समझा इसके लिए दोनों के सभी सदस्यों का हृदयपूर्वक आभार मानना मेरा परम कर्तव्य है।

बहुत बहुत शुक्रिया!

एक महत्व की बात मैं आपको बताना चाहता हूँ कि यह सम्मान एक ऐसे लेखक को दिया गया है, जिसकी भाषा को कल-परसों तक बड़े-बड़े लोग भाषा ही मानने के लिए तैयार नहीं थे। इसकी लिपि नहीं है, व्याकरण नहीं है, इसमें साहित्य नहीं है कह कर खुद यह भाषा बोलने वाले भी उसका उपहास किया करने थे। यह भाषा अगर आज अकादेमी की महत्तर सदस्यता और ज्ञानपीठ जैसा सम्मान पा सकी है, तो उसका सारा श्रेय उन लोगों को जाता है, जो भाषा को 'भाषा' बनाने के लिए पिछले पचास-साठ सालों से लगातार तीव्र संघर्ष करते आये हैं। उनका स्मरण करना मेरा एक बड़ा कर्त्तव्य है। बड़ी नम्रता के साथ मैं उन सभी ज्ञात-अज्ञात संघर्षकर्ताओं को अभिवादन करके उनकी उपलब्धि के लिए उन्हें बधाई देना चाहता हूँ।

साहित्य अकादेमी की स्थापना हुई तब—भारतीय साहित्य की व्याख्याएँ की गयी थी— भारतीय साहित्य एक है, हालाँकि वह अनेक भाषाओं में लिखा जाता है। इण्डियन लिटरेचर इज वन दो रिटिन इन सेवरल लेंग्वेजेज। इसका मतलब यह है कि हम भले ही अपनी-अपनी भाषाओं में लिखते रहें, हम महज उस भाषा के लेखक नहीं है। बल्कि हम भारतीय लेखक हैं।

आत्मसन्तोष के लिए यह टॉनिक अच्छा है। मगर यह आत्मसन्तोष हमें अक्सर भुलावे में डालता आया है। खुली आँखों से जब हकीकत की ओर हम देखेंगे तब हमारा दिल बैठ जाएगा। अगर हम इतने बड़े देश के लेखक हैं, तो बताइए, हमारी पुस्तकें इस देश में कौन पढ़ते हैं? कितने लोग पढ़ते हैं?

पिछले पचीस-तीस सालों में कोंकणी में मेरी करीब पच्चीस पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। ज्यादातर पुस्तकों का पहला संस्करण एक हजार प्रतियों का निकला था। हमने देखा कि एक हज़ार प्रतियाँ समाप्त होने के लिए करीब दस साल लग जाते हैं। तुरन्त दूसरा संस्करण निकालने की हमारी हिम्मत ही नहीं पड़ती। कम-से-कम बीस साल तक इन्तजार करना पड़ता है।

कोंकणी तो छोटी भाषाओं में से एक है। हिन्दी वह तो सबसे बड़ी भाषा है न? देश की राष्ट्र-भाषा भी है। राष्ट्र-भाषा अगर न होती तो भी वह पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार के लोगों की

भाषा है न? इतने बड़े क्षेत्र की भाषा की किसी भी पुस्तक का पहला संस्करण कम-से-कम एक लाख प्रतियाँ तो छपना चाहिए था। कितनी प्रतियों का छपता है? कोंकणी की मेरी 'ओथांबे' पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद हुआ है। 'पतझर में टूटी पत्तियाँ' के नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन भी कोई मामूली प्रकाशक ने नहीं बल्कि ज्ञानपीठ जैसी एक बड़ी संस्था ने किया है। उसके ब्लर्ब पर 'कोंकणी की यह एक अद्‌भुत रचना है' बताया गया है। प्रतियाँ कितनी छपी हैं? सिर्फ एक हजार!

इस हालत की वजह ढूँढ़ने की कोशिश करता हूँ तब मुझे सभी देशी भाषाओं के सिर पर एक काला बादल मँडराता हुआ दिख पड़ता है– भारत नामक इस 'सार्वभौम प्रजासत्ताक' देश में अँग्रेजी की प्रधानता का। इस आजाद देश का राज-कारोबार अँग्रेजी में चलता है। लिहाजा बड़ी-बड़ी नौकरियाँ अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही मिलती हैं। यही नहीं, अँग्रेजी हमें 'स्टेटस' भी देती रही है।

ऐसे हालात में आप मातृभाषाओं के चाहे जितने महिमास्तोत्र गाते रहिए, किसी पर भी उसका असर होने वाला नहीं है। लोग दिन-ब-दिन अँग्रेजीदाँ ही बनते रहेंगे। इस हालत में देशी साहित्य कतई नहीं पनप सकता। कोई 'पढ़ा-लिखा' आदमी हमारी पुस्तकें नहीं पढ़ेगा। अँग्रेजी पुस्तकें ही पढ़ता रहेगा।

मैं यह कहना नहीं चाहता कि अँग्रेजी के ज्ञान की हमें आवश्यकता नहीं है। है, अवश्य है। सिर्फ इसलिए कि वह हमें विश्व-साहित्य के सम्पर्क में रखती है। मगर कितने लोगों को इस भाषा का ज्ञान होना चाहिए? देश के सौ फीसदी लोगों को? नामुमकिन है। देश के विकास के लिए तो हरगिज नहीं। यह सारे क्षेत्र देशी भाषाओं के हैं। जर्मनी, फ्रांस, जापान, चीन, रूस जैसे देश अपनी-अपनी भाषाओं में राज-कारोबार चलाते हैं, विकास कर सकते हैं, तो क्या हम नहीं कर सकते?

हम चाहे जितने अँग्रेजीदाँ बनने की कोशिश करें, कभी भी अमेरिकी,अँग्रेज नहीं बन पाएँगे। अन्तरराष्ट्रीय तो बिलकुल नहीं। सिर्फ अपनी भूमि से उखड़े हुए– अपरूटेड होंगे। आउट ऑफ प्लेस एवरीव्हेयर, ऐट होम नोव्हेयर। न घर के न घाट के।

अँग्रेजी की कई परिसीमाएँ हैं। वह हमें दुनिया के साथ जोड़ती तो है, पर अपने लोगों से तोड़ती भी है। अध्यात्म की दुनिया में अनपढ़ श्रीरामकृष्ण देश के कोने-कोने में पहुँच सके हैं। साईबाबा भी पहुँच चुके हैं। मगर शंकराचार्य के बाद जिन्होंने भारतीय तत्व-विचार में मौलिक योगदान दिया ऐसे देश के दो महापुरुष– श्री अरविन्दो और जे. कृष्णमूर्ति महज आलसी, फैशनेबिल, निकम्मे अँग्रेजीदाँ लोगों के बीच ही फँसे रहे। राजनीति के क्षेत्र में एम.एन. रॉय मामूली व्यक्ति नहीं थे। एक तगड़ी शख्सियत थे। क्रान्तिकारी थे, एक मौलिक चिन्तक भी थे। मैक्सिको की क्रान्ति के एक अग्रदूत थे और लेनिन के दाहिने हाथ थे। देश की कोई भाषा जानते नहीं थे। यहाँ तक कि अपनी जन्मभाषा बांग्ला भी भूल गये थे। दश के स्वतन्त्रता-संग्राम में हिस्सा लेने के लिए आये थे। मगर लोगों के साथ बिलकुल घुलमिल न सके–मुम्बई और कोलकाता विश्वविद्यालयों के कुछ प्राध्यापकों के और बुद्धिजीवियों के दायरे में ही फँसे रहे।

जड़ें काट कर बड़े-बड़े वृक्षों को बौना बनाने की एक कला जापानियों ने विकसित की है। नारियल का पेड़ जो गगन को छूने के लिए ऊपर तक जाता है उसे सिर्फ पाँच फुट ऊँचा इस कला के द्वारा बनाया गया मैंने देखा है। बड़ा ही सुन्दर दिखाई देता है। मगर वह नारियल नहीं दे पाता। दीवानखाने की शोभा बढ़ाने के ही काम आता है। इस कला को बोनसाई कला कहते हैं। अँग्रेजी ने हमारे देश में कई बोन्साई विद्वान, बोन्साई बुद्धिजीवी, बोनसाई लेखक और अब तो बोन्साई पाठक भी निर्मित किये हैं जो परिसंवादों की शोभा बढ़ाने के काम आते हैं। ठोस कुछ भी नहीं दे सकते। क्या हम देश को बोन्साय लोगों का होने देंगे? नहीं न? तो फिर देश में अँग्रेजी की जो प्रबलता है उसके खिलाफ विद्रोह करना निहायत जरूरी हो गया है। कौन करेगा यह विद्रोह? कोई राजतीतिक नेता? एक नरशार्दूल था, जिसने, यह विद्रोह शुरू किया था– डॉ. लोहिया। अचानक ही चल बसे। अब? मेरी दृष्टि देशी साहित्यकारों की ओर जाती है। विक्टर ह्यूगो बड़े गर्व के साथ कहा करता था– इटली ने रिनेसाँ का आन्दोलन चलाया। जर्मनी ने रिफॉर्मेशन के साथ-साथ आधा रिवोल्यूशन चलाया और न सिर्फ फ्रांस की बल्कि पूरे यूरोप की शक्ल सूरत ही बदल डाली। ऐसा कोई एक वॉल्तेयर देश की किसी एक भाषा में पैदा होगा, तभी-आज की हालत जड़मूल से बदल पाएगी।

इन शब्दों के साथ मैं ज्ञानपीठ पुरस्कार को बड़ी नम्रता से स्वीकार कर रहा हूँ। •

सत्याग्रह की गुरु

वनमाला परीख

बापू ने अपनी आत्मकथा में इस घटना का वर्णन 'एक पुण्य-स्मरण और प्रायश्चित' शीर्षक से किया है। सन् 1898 के आसपास की यह घटना है।

''जिस समय मैं डरबन में वकालत करता था, तब अक्सर मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। इनमें हिन्दू और ईसाई थे, अथवा प्रान्तों के हिसाब से कहूँ तो गुजराती और मद्रासी थे। मुझे याद नहीं पड़ता कि इनके विषय में मेरे मन में कभी भेदभाव पैदा हुआ हो। मैं इन्हें बिल्कुल अपने कुटुम्बी के जैसा समझता और अगर पत्नी की ओर से उसमें कोई रुकावट आती, तो मैं उससे लड़ता-झगड़ता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके माता-पिता पंचम जाति के थे। हमारे घर की बनावट पश्चिमी ढब की थी। उसके कमरों में मोरियाँ नहीं होतीं, और होनी भी नहीं चाहिए, ऐसा मेरा मत है। इसलिए हरेक कमरे में मोरी के बदले पेशाब के लिए अलग से एक बरतन रहता था। उसे साफ करने का काम नौकर का नहीं था, बल्कि हमारा—पति-पत्नी दोनों का था। हाँ, जो कारकुन अपने को घर का ही समझने लग जाते थे, वे तो अपने बरतन को खुद भी साफ कर डालते थे। ये पंचम कुल में जन्मे कारकुन नये थे। उनका बरतन हमी को उठाकर साफ करना था। दूसरे बरतन तो कस्तूरबा उठातीं और साफ करती थीं, लेकिन इन भाई के बरतन उठाना उन्हें असह्य मालूम हुआ। हमारे बीच झगड़ा हुआ। मैं उठाता हूँ तो उनसे देखा नहीं जाता और खुद उठाना उनके लिए कठिन था। आँखों से मोती के बिन्दु बरसाती, हाथ में बरतन लिये मुझको अपनी लाल-लाल आँखों से उलाहना देती, और सीढ़ियाँ उतरती हुई कस्तूरबाई को मैं आज भी ज्यों-का-त्यों चित्रित कर सकता हूँ।''

लेकिन मैं जितना प्रेमल उतना ही कठोर पति था। मैं अपने आपको उनका शिक्षक भी मानता था, इसलिए अपने अन्ध-प्रेम के अधीन होकर उन्हें काफी सताता था।

''जिस तरह उनके बरतन को उठाकर ले जाने भर से मुझे सन्तोष न हुआ। वे हँसते हुए उसे ले जाएँ, तभी मुझे सन्तोष होता। इसलिए मैंने दो बात ऊँची आवाज में कही और मैं गरज उठा : 'मेरे घर में यह बखेड़ा नहीं चलेगा।'

यह वचन तीर की तरह चुभा। पत्नी खौल उठी : 'तो अपना घर अपने पास रखो, मैं चली।'

मैं ईश्वर को भूल बैठा था। दया का लेशमात्र मुझमें न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। जीने के सामने ही बाहर निकलने का दरवाजा था। मैं उस दिन अबला को पकड़कर दरवाजे तक खींच ले गया। दरवाजा आधा खोला।

आँखों से गंगा-जमुना बह रही थीं और कस्तूरबाई बोलीं : 'तुम्हें तो शरम नहीं, मुझे है। जरा तो शरमाओ। मैं बाहर निकलकर कहाँ जाती? यहाँ माँ-बाप भी नहीं कि उनके पास चली जाऊँ। मैं औरत ठहरी, इसलिए मुझे तुम्हारी चपत भी खानी ही

आँखों से गंगा-जमुना बह रही थीं और कस्तूरबाई बोलीं : 'तुम्हें तो शरम नहीं, मुझे है। जरा तो शरमाओ। मैं बाहर निकलकर कहाँ जाती? यहाँ माँ-बाप भी नहीं कि उनके पास चली जाऊँ। मैं औरत ठहरी, इसलिए मुझे तुम्हारी चपत भी खानी ही होगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बन्द कर लो। कोई देखेगा तो दोनों की फजीहत होगी।'

होगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बन्द कर लो। कोई देखेगा तो दोनों की फजीहत होगी।'

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा, मन में शरमा जरूर गया। दरवाजा बन्द किया। अगर पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी, तो मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था? हमारे बीच झगड़े तो बहुत हुए हैं, लेकिन परिणाम हमेशा शुभ ही हुआ है। पत्नी ने अपनी अद्‌भुत सहनशीलता से विजय पायी है।

आज मैं तटस्थ भाव से इसका वर्णन कर सकता हूँ, क्योंकि यह घटना तो हमारे बीते युग की है। आज मैं मोहान्ध पति नहीं हूँ। शिक्षक भी नहीं। चाहें तो कस्तूरबाई आज मुझे धमका सकती हैं। हम आज कसौटी पर चढ़े हुए भुक्तभोगी मित्र हैं। एक-दूसरे के प्रति निर्विकार रहकर जी रहे हैं। वे मेरी बीमारी में किसी भी प्रकार के बदले की इच्छा किये बिना मेरी चाकरी करने वाली सेविका हैं।

इस छोटी-सी घटना द्वारा हम बा और बापूजी के उस समय के गृह-जीवन की थोड़ी झाँकी देख सकते हैं। बा के देहान्त के बाद बापू को आश्वासन के कई पत्र और तार मिले थे। वाइसराय लॉर्ड वेवेल के पत्र के जवाब में बापू ने लिखा था :

... पहले तो अपनी पत्नी की मृत्यु के बारे में आपकी ममताभरी सम्वेदना के लिए मैं आपका और लेडी वेवेल का आभार मानता हूँ। यद्यपि अपनी मृत्यु के कारण वे सतत वेदना से छूट गयी हैं इसलिए उनकी दृष्टि से मैंने उनकी मौत का स्वागत किया है, तो भी इस क्षति से मुझको जितना दु:ख होने की कल्पना मैंने की थी उससे अधिक दु:ख मुझे हुआ है। हम असाधारण दम्पती थे। 1906 में एक-दूसरे की स्वीकृति से और अनजानी आजमाइश के बाद हमने आत्म-संयम के नियम को निश्चित रूप से स्वीकार किया था। इसके परिणामस्वरूप हमारी गाँठ पहले से कहीं ज्यादा मजबूत बनी और मुझे उससे बहुत आनन्द हुआ। हम दो भिन्न व्यक्ति नहीं रह गये। मेरी वैसी कोई इच्छा नहीं थी, तो भी उन्होंने मुझमें लीन होना पसन्द किया। फलत: वे सचमुच ही मेरी अर्धांगिनी बनीं। वे हमेशा से बहुत दृढ़ इच्छाशक्ति वाली स्त्री थीं, जिनको अपनी नवविवाहित दशा में मैं भूल से हठीली माना करता था। लेकिन दृढ़ इच्छाशक्ति के कारण वे अनजाने ही अहिंसक असहयोग की कला के आचरण में मेरी गुरु बन गयीं। उस आचरण का आरम्भ मेरे अपने परिवार से ही हुआ। सन् 1906 में जब मैंने उसे राजनीति के क्षेत्र में दाखिल किया, तब उसका अधिक विशाल और विशेष रूप से योजित 'सत्याग्रह' नाम पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में जब हिन्दुस्तानियों की जेलयात्रा शुरू हुई,
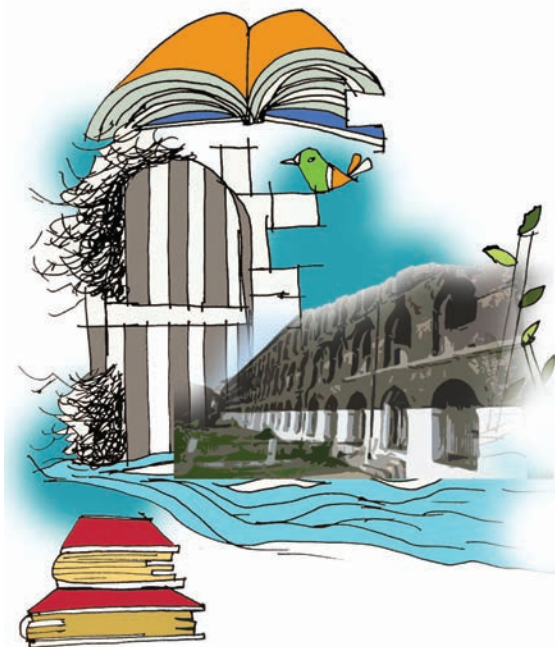
तब श्रीमती कस्तूरबा भी सत्याग्रहियों में एक थीं। मेरे मुकाबले उनको ज्यादा शारीरिक पीड़ा हुई। वे कई बार जेल जा चुकी थीं, फिर भी इस बार के इस कैदखाने में, जिसमें सभी तरह की सहूलियतें मौजूद थीं, उनको अच्छा नहीं लगा। दूसरे बहुतों के साथ मेरी और फिर तुरन्त ही उनकी जो गिरफ्तारी हुई, उससे उन्हें जोर का आघात पहुँचा और उनका मन खट्टा हो गया। वे मेरी गिरफ्तारी के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थीं। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था कि सरकार को मेरी अहिंसा पर भरोसा है, और जब तक मैं खुद गिरफ्तार होना न चाहूँ, वह मुझे पकड़ेगी नहीं। सचमुच उनके ज्ञान-तन्तुओं को इतने जोर का धक्का बैठा कि उनकी गिरफ्तारी के बाद उन्हें दस्त की सख्त शिकायत हो गयी। अगर उस समय डॉ. सुशीला नय्यर ने, जो उनके साथ ही पकड़ी गई थीं, उनका इलाज न किया होता, तो मुझसे इस जेल में आकर मिलने से पहले ही उनकी देह छूट चुकी होती। मेरी हाजिरी से उन्हें आश्वासन मिला और बिना किसी खास इलाज के दस्त की शिकायत दूर हो गई। लेकिन मन जो खट्टा हुआ था सो खट्टा ही बना रहा। इसकी वजह से उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ गया और इसी का नतीजा था कि आखिर कष्ट सहते-सहते क्रम-क्रम से उनका देहपात हुआ।

अपरिग्रह की दीक्षा

बापू के साथ उनके कुछ व्रतों में अनायास और इच्छापूर्वक और कुछ दूसरे व्रतों में शुरू-शुरू में अनिच्छापूर्वक और आयासपूर्वक, लेकिन बाद में समझ के साथ, बा ने बापू का

अनुसरण किया है। अपरिग्रह के मामले में बा को ठीक-ठाक कोशिश करनी पड़ी है। इसका पहला उदाहरण आत्मकथा से लेकर बापू की ही भाषा में नीचे दिया है :

लड़ाई के (सन् 1897 से 1899 तक का बोअर-युद्ध) काम से छुट्टी पाने के बाद मुझे लगा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीका में नहीं, बल्कि देश में है। मैंने साथियों से मुक्त होने की इजाजत चाही। बड़ी मुश्किल-से शर्त के साथ मेरी माँग मंजूर की गयी। शर्त यह थी कि अगर एक साल के अन्दर कौम को मेरी जरूरत मालूम हो, तो मुझे वापस दक्षिण अफ्रीका पहुँचना चाहिए। मुझको यह शर्त कड़ी लगी। लेकिन मैं प्रेमपाश में बँधा था। मित्रों की बात को मैं ठुकरा नहीं सकता था। मैंने वचन दिया और इजाजत हासिल की।

यों कहना चाहिए कि इस समय मेरा निकट सम्बन्ध नेटाल के साथ ही था। नेटाल के हिन्दुस्तानियों ने मुझको प्रेमामृत से नहला दिया। जगह-जगह मानपत्र देने की सभाएँ हुईं और हरेक जगह से कीमती भेंटें मिलीं। भेंटों में सोने-चांदी की चीजें तो थी हीं, लेकिन उनमें हीरे की चीजें भी थीं।

और इन भेंटों में 50 गिन्नियों का एक हार कस्तूरबा के लिए था। लेकिन उन्हें मिली हुई चीज भी मेरी सेवा के सिलसिले में थी, इसलिए उसे अलग नहीं गिना जा सकता था।

जिस शाम को इन उपहारों में से खास-खास उपहार मिले थे, वह रात मैंने बावरे की भाँति जागकर बितायी। अपने कमरे में चक्कर काटता रहा, लेकिन उलझन सुलझती नहीं थी। सैकड़ों की कीमत के उपहारों को छोड़ देना बहुत मुश्किल मालूम होता था। रखना उससे भी ज्यादा मुश्किल लगता था।

मैं शायद इन भेंटों को पचा सकूँ, लेकिन मेरे बच्चों का क्या? स्त्री का क्या? उन्हें तालीम तो सेवा की मिल रही थी। हमेशा यह समझाया जाता था कि सेवा का कोई बदला नहीं लेना चाहिए। घर में कीमती गहने वगैरा नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। अब इन गहनों और जवाहरात का मैं क्या करूँ?

आखिर मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि मुझे ये चीजें हरगिज न रखनी चाहिए। पारसी रूस्तमजी वगैरा को इन गहनों का ट्रस्टी मुकर्रर करके उनके नाम एक पत्र का मसविदा तैयार किया और तय किया कि सवेरे स्त्री-पुत्र वगैरा के साथ चर्चा करके मैं अपने बोझ को हलका कर लूँ।

मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल होगा। साथ ही मुझे विश्वास था कि बच्चों को समझाने में जरा भी मुश्किल नहीं होगी। उनको वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो फौरन समझ गये। उन्होंने कहा : 'हमें इन गहनों की जरूरत नहीं। हमको यह सब वापस ही दे देना चाहिए और अगर कभी हमें ऐसी चीजों की जरूरत हुई, तो हम खुद कौन उन्हें नहीं खरीद सकेंगे?'

मैं खुश हुआ। मैंने पूछा: 'तो तुम बा को समझाओगे न?'

'जरूर यह काम हमारा है। उन्हें कौन ये गहने पहनने हैं? वे तो हमारे लिए रखना चाहती हैं। हम उन्हें नहीं चाहते, तो वे हठ क्यों करने लगीं?'

लेकिन काम जितना सोचा था, उससे ज्यादा मुश्किल साबित हुआ। 'तुम्हें चाहे जरूरत न हो, तुम्हारे लड़कों को भी न हो। बालकों को तो जैसा सिखाओ, सीखते हैं। चाहो, मुझको गहने मत पहनने दो, लेकिन मेरी बहुओं का क्या? उनके तो काम आएँगे और कौन जानता है, कल क्या होगा? इतने प्रेम से दी हुई चीजें लौटायी नहीं जातीं।' जिस तरह वाग्धारा चली और उसके साथ अश्रुधारा आ मिली। बालक दृढ़ रहे। मेरे डिगने का कोई सवाल नहीं था।

मैंने धीमे से कहा : 'लड़कों की शादी तो होने दो। हमें कौन बचपन में इन्हें ब्याहना है? बड़े होने पर ये भले जो चाहें, करें। और, हमें कौन गहनों की शौकीन बहुएँ ढूँढ़नी हैं? फिर भी कुछ बनवाना ही पड़ा, तो मैं तो हूँ ही न?'

'तुम्हें मैं जानती हूँ। तुम वही हो न कि जिनने मेरे गहने भी छीन लिये? तुमने जब मुझे सुख से नहीं पहनने दिया, तो तुम मेरी बहुओं के लिए क्या लोगे? बच्चों को आज से बैरागी बनाना चाहते हो? ये गहने नहीं लौटेंगे। और मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक?'

मैंने पूछा : 'लेकिन यह हार तुम्हारी सेवा के लिए मिला है या मेरी?'

'कुछ भी हो। तुम्हारी सेवा मेरी भी सेवा हुई। मुझसे रात-दिन मजदूरी करायी, सो क्या सेवा नहीं मानी जाएगी। मुझे रुला-रुला कर हर किसी को घर में रखा और चाकरी करवायी, उसका कोई हिसाब नहीं?'

ये सारे बाण नुकीले थे। इनमें से कुछ चुभते थे। लेकिन गहने तो मुझे लौटाने ही थे। कई बाबतों में मैं जैसे-तैसे बा की मंजूरी ले सका। 1896 में और 1901 में मिली हुई भेंटें लौटा दीं। उनका ट्रस्ट बना और सार्वजनिक काम के लिए मेरी इच्छा के अनुसार या ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार उनका उपयोग किया जाए, इस शर्त पर वे बैंक में रखी गयीं।

अपने इस कार्य का मुझे कभी पछतावा नहीं हुआ। जैसे समय बीता, कस्तूरबा को भी इसका औचित्य पट गया। हम बहुत से प्रलोभनों में से बच गये हैं।

मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि सार्वजनिक सेवक को निजी उपहार नहीं लेने चाहिए।

इस तरह बा को अपरिग्रह की पहली दीक्षा सन् 1901 में मिली। लेकिन पक्की दीक्षा तो उनको अभी दूसरे ही गुरुओं से मिलने वाली थी।

साबरमती आश्रम में चोरों का उपद्रव हमेशा से ही रहता आया है। अलबत्ता, चोरों को बहुत कीमती चीजें तो वहाँ मिलती नहीं थीं, लेकिन हमारे देश जैसे गरीब देश में थोड़े-से कपड़े-लत्तों अथवा बरतन-भांडों के लिए भी गरीब लोग चोरी करने को तैयार हो जाते हैं। आश्रम में समय-समय पर ऐसी चोरियाँ हुआ करती थीं। एक बार बा के कमरे में चोरी हुई। ठीक खयाल तो नहीं है, लेकिन 1926 या '27 का साल था; चोर कपड़ों से भरी दो सन्दूकें उठा ले गये। उनमें से कपड़े-कपड़े सब ले लिये और पेटियाँ पास के खेत में फेंककर चले गये। चोरी के सिलसिले में बातचीत चल रही थी। बापू ने सवाल किया कि बा के पास दो सन्दूकें भरकर कपड़े होते ही कहाँ से? और होने भी क्यों चाहिए? बा रोज की नयी-नयी साड़ियाँ तो कुछ पहनतीं नहीं। बा ने कहा : "चि. रामी और मनु (हरिलालभाई की दो लड़कियाँ) की माँ तो मर गयी हैं, लेकिन कभी-कदास जब वे मेरे पास आएँ, मुझे उनको दो कपड़े तो देने चाहिए न? इसके लिए जब-तब भेंट में मिली हुई साड़ियाँ और खादी मैंने रख छोड़ी थीं।" अलबत्ता, इस पर बापू की दलील तो यही थी कि हम इस तरह का संग्रह कर ही नहीं सकते और साड़ियाँ या खादी निजी भेंट के रूप में मिली हों, तो भी तत्काल उनकी जरूरत हो तभी वे अपने पास रखी जाएँ। जितनी फाजिल हों सबको आश्रम के कार्यालय में ही जमा करा देनी चाहिए। उन गहनों की तरह इस बार भी बा को अपने लिए इन चीजों की जरूरत थी ही नहीं। माँ का दिल बेटी को कुछ-न-कुछ देने के लिए हमेशा छटपटाता है, और यही वजह थी कि बा ने साड़ियाँ और खादी जुटा कर रखी थीं। बापू ने शाम को प्रार्थना में इसकी चर्चा करते हुए कहा : 'हमको ऐसा व्यवहार भी नहीं पुसाता। लड़कियाँ हमारे घर आएँ, तो रहे और खाएँ-पीएँ। लेकिन जिन्होंने गरीबी का जीवन बिताने का व्रत लिया है, उन्हें इस तरह की भेंटें देना पुसाता नहीं।' वगैरा-वगैरा। इन चोर गुरुओं से मिली हुई दीक्षा के बाद बा ने इस तरह के दो कपड़े भी कभी जुटा कर नहीं रखे।

अपनी निजी जरूरतों के खयाल से तो बा के लिए अपरिग्रह बिल्कुल आसान था। अपने को चुस्त आश्रमवासी मानने-मनवानेवाले भी बा की सादगी को देखकर शरमाते थे। मीरा बहन लिखती हैं :

जब हम लम्बा और कड़ा सफर करते थे तब बापूजी कहा करते थे : 'बा हम सबको हराती हैं। इतना कम सामान और इतनी कम जरूरतें दूसरे किसी की हैं? मैं सादगी का इतना अधिक आग्रह रखता हूँ, फिर भी मेरा सामान बा के मुकाबले दुगुना है।' हमारी सजग कोशिशों के बाद भी हम बा की स्वाभाविक, किन्तु अचूक रूप से स्वच्छ और भव्य सादगी के साथ किसी तरह होड़ में टिक नहीं सकते थे। सारे दल में उनका बिस्तर सबसे छोटा होता था और उनकी नन्ही-सी पेटी भी कभी अव्यवस्थित या ठूँसी-ठाँसी नहीं रहती थी।

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा, मन में शरमा जरूर गया। दरवाजा बन्द किया। अगर पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी, तो मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था? हमारे बीच झगड़े तो बहुत हुए हैं, लेकिन परिणाम हमेशा शुभ ही हुआ है। पत्नी ने अपनी अद्‌भुत सहनशीलता से विजय पायी है।

लेकिन यह तो भौतिक अपरिग्रह की बात हुई। बापू के साथ रहकर बा ने धीरे-धीरे अपनी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं का परिग्रह तजा था, जो विशेष उच्च और विशेष भव्य अपरिग्रह हैं।

बा के इस अपरिग्रह की या त्याग की बापू खूब कदर करते थे। एक बार आश्रम में हाल ही भरती हुए एक भाई के साथ बापू बात कर रहे थे। बापू का अपना खयाल है कि चाय, कॉफी जैसे पेय नुकसानदेह हैं। इस पर उन भाई ने बापू से कहा : 'तो फिर बा आश्रम में रहकर कॉफी क्यों पीती हैं?'

बापू ने फौरन जवाब दिया : 'लेकिन तुम्हें क्या पता कि बा ने कितना छोड़ा है? उनकी यह एक टेब रह गयी है। मैं उन्हें इसे भी छोड़ देने को कहूँ, तो मेरे जैसा जालिम और कौन होगा!'

तो भी अखीर-अखीर में तो बा ने खुद ही कॉफी पीना भी छोड़ दिया था और जब जरूरत मालूम होती थी, तुलसी और काली मिर्च का काढ़ा पी लेती थीं।

बापू को बचाया

जिस तरह बापू ने बा को बचाया, उसी तरह बा ने बापू को भी बचाया है। यह कहना बिल्कुल गलत न होगा कि आज बापू जो हमारे बीच हैं, सो बा के ही प्रताप से हैं।

यह मानकर कि दूध प्राणिज पदार्थ है, और इस कारण मांस के जैसी ही खुराक है, बापू ने एक अरसे से दूध छोड़ रखा था। तिस पर जब उन्हें पता चला कि गायों और भैंसों पर उनसे अधिक-से-अधिक दूध पाने के लिए कलकत्ते और दूसरे शहरों में फूँके की क्रिया की जाती है तभी से उन्होंने दूध न पीने की प्रतिज्ञा कर ली थी। उन दिनों बापू का मुख्य आहार सिकी हुई और कुटी हुई मूँगफली, गुड़, केले और दो-तीन नीबुओं का पानी, इतना ही था। एक दिन कुछ ज्यादा मूँगफली खा जाने की वजह से बापू को पेचिश की थोड़ी शिकायत हो गयी। उन्होंने कोई परवाह नहीं की। दूसरे दिन कोई त्योहार था। बापू दूध या घी तो खाते नहीं थे, इसलिए बा ने उनके वास्ते दले हुए गेहूँ की लपसी तेल में तैयार की थी और पूरे मूँग बनाये थे। बापू का इरादा तो खाने का नहीं था, लेकिन कुछ तो स्वाद के वश होकर और कुछ बा को खुश करने के खयाल से वे जीमने बैठे। थोड़ा ही खाकर उठ जाने के इरादे से बैठे थे, लेकिन कुछ ज्यादा खा गये। खाये को अभी पूरा घण्टा भी नहीं हुआ था कि जोर के दर्द के साथ पेचिश शुरू हो गयी। खेड़ा जिले के मशहूर सत्याग्रह के बाद रंगरूटों की भरती के वे दिन थे और उसके सिलसिले में उसी दिन शाम को उन्हें नड़ियाद जाना था। पेचिश की परवाह किये बिना बापू वहाँ गये। लेकिन वहाँ जाने पर बीमारी बहुत बढ़ गयी। पाव-पाव घण्टे से दस्त होने लगे। और चौबीस घण्टों में तो बापू का सुगठित शरीर बिल्कुल लुंज-पुंज हो गया। डॉक्टर आये, लेकिन दवा न लेने के उनके आग्रह के खिलाफ किसी की कुछ चली नहीं। अच्छी-से अच्छी सार-सम्भाल के बावजूद शरीर क्षीण होने लगा। पानी के और ऐसे ही दूसरे इलाजों की मदद से बापू ने रोग तो मिटा लिया। लेकिन शरीर किसी भी तरह पनप नहीं पाया। दो-तीन मित्रों ने दूध का और दूध न लें तो मांस का शोरबा या अण्डे लेने का आग्रह किया। लेकिन जिसने दूध को मांसवत् मानकर छोड़ दिया हो, वह इन चीजों को लेना कैसे कबूल करे? किसी ने सलाह दी कि माथेरान जाने से शरीर पनपेगा, इसलिए बापू माथेरान गये। लेकिन वहाँ का पानी भारी साबित हुआ, इसलिए वहाँ बिल्कुल जमा नहीं और वे बम्बई आये। बम्बई में डॉक्टर दलाल ने उनके शरीर की जाँच की और अपना इलाज शुरू करने से पहले कहा : 'जब तक आप दूध न लेंगे, मैं आपके शरीर को पुष्ट नहीं बना सकूँगा। आपको दूध और लोहा और 'सोमल' की पिचकारी लेनी चाहिए। आप इतना करें तो आपके शरीर को फिर से ठीक-ठाक पुष्ट बनाने की गारण्टी मैं दूँ।'

'पिचकारी दीजिए, लेकिन दूध मैं न लूँगा।'

'दूध के बारे में आपकी प्रतिज्ञा क्या है?'

'जब से मैंने यह जाना है कि गाय-भैंस पर फूँके की क्रिया होती है, तब से मुझे दूध से नफरत हो गयी है। इसलिए मैंने दूध छोड़ा है।'

बा बापू की खटिया के पास ही खड़ी थीं। वे बोल उठीं : 'तब तो बकरी का दूध ले सकते हैं।' अपने मन की-सी बात सुनकर डॉक्टर उत्साह में आ गये और बोले : 'आप बकरी का दूध लें, तो मेरा काम बन जाए।'

बापू ने बा की और डॉक्टर की सलाह मान ली। बापू के समान सत्य के पुजारी की प्रतिज्ञा के शब्दार्थ का पालन हुआ।

इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि बा की समय-सूचक ताने और सहज बुद्धि ने बापू को जिलाया।

पहली स्त्री-सत्याग्रही

आजकल जेल जाना बहुत आसान बात हो गयी है; लेकिन पहले तो जेल का नाम सुनकर डरते थे। इस समय किसी को यह कल्पना तो थी ही नहीं कि स्त्री जेल में जा सकती है; लेकिन बापूजी तो जिनकी कल्पना भी नहीं होती, ऐसे बहुतेरे काम करते-कराते आये हैं। दक्षिण अफ्रीका में सन् 1913 में एक ऐसा कानून पास हुआ कि ईसाई धर्म के अनुसार किये गये ब्याह के सिवा–जो विवाह-विभाग के अधिकारी के यहाँ

दर्ज हुए हों—दूसरे सब ब्याहों को कानून में कोई जगह नहीं। जिसका मतलब यह हुआ कि हिन्दू, मुसलमान, पारसी वगैरा धर्मों के अनुसार की गयी शादियाँ इस कानून के अनुसार रद्द मानी गयीं; और इस कारण बहुत-सी विवाहिता हिन्दुस्तानी स्त्रियों का दरजा उनके पति की धर्मपत्नी का न रहकर रखैल का माना गया। यह एक ऐसी स्थिति थी, जिसे स्त्री-पुरुष दोनों सह नहीं सकते थे। बापू ने इस कानून को रद्द करने के लिए वहाँ की सरकार के साथ बातचीत चलायी, लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला। अत: बापू ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया। उन्होंने इस लड़ाई में स्त्रियों को भी न्योतने का निश्चय किया। 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' नामक पुस्तक में बापू लिखते हैं :

'मैं जानता था कि बहनों के जेल भेजने का काम बहुत खतरनाक था। फिनिक्स में रहनेवाली अधिकतर बहनें मेरी रिश्तेदार थीं। वे सिर्फ मेरे लिहाज के कारण ही जेल जाने का विचार करें और फिर ऐन मौके पर घबराकर या जेल में जाने के बाद उकताकर माफी वगैरा माँग लें तो मुझे सदमा पहुँचे। साथ ही इसकी वजह से लड़ाई के एकदम कमजोर पड़ जाने का डर भी था। मैंने तय किया था कि मैं अपनी पत्नी को तो हरगिज नहीं ललचाऊँगा। वे इनकार भी नहीं कर सकती थीं और 'हाँ' कह दें तो उस 'हाँ' की भी कितनी कीमत की जा, सो मैं कह नहीं सकता था। ऐसे जोखिम के काम में स्त्री खुद होकर जो निश्चय करे, पुरुष को वही मान लेना चाहिए और कुछ भी न करे तो पति को उसके बारे में तनिक भी दु:खी नहीं होना चाहिए, इतना मैं समझता था। इसलिए मैंने उनके साथ कुछ भी बात न करने का इरादा रखा था। दूसरी बहनों से मैंने चर्चा की। वे जेलयात्रा के लिए तैयार हुईं उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि वे हर तरह का दु:ख सहकर भी अपनी जेलयात्रा पूरी करेंगी। मेरी पत्नी ने भी इन सब बातों का सार जान लिया और मुझसे कहा : 'मुझसे इस बात की चर्चा आप नहीं करते, इसका मुझे दु:ख है। मुझमें ऐसी क्या खामी है कि मैं जेल नहीं जा सकती? मुझे भी उसी रास्ते जाना है, जिस रास्ते जाने की सलाह आप इन बहनों को दे रहे हैं।'

मैंने कहा : 'मैं तुम्हें दु:ख पहुँचा ही नहीं सकता। इसमें अविश्वास की भी कोई बात नहीं। मुझे तो तुम्हारे जाने से खुशी ही होगी। लेकिन तुम मेरे कहने पर गयी हो, इसका तो आभास तक मुझे अच्छा नहीं लगेगा। ऐसे काम सबको अपनी-अपनी हिम्मत से ही करने चाहिए। मैं कहूँ और मेरी बात रखने के लिए तुम सहज ही चली जाओ, और बाद में अदालत के सामने खड़ी होते ही काँप उठो और हार जाओ या जेल के दु:ख से ऊब उठो, तो इसे मैं अपना दोष तो नहीं मानूँगा, लेकिन सोचो कि मेरे क्या हाल होंगे? मैं तुमको किस तरह रख सकूँगा और दुनिया के सामने किस तरह खड़ा रह सकूँगा? बस, इस भय के कारण ही मैंने तुम्हें ललचाया नहीं।'

मुझे जवाब मिला : 'मैं हार कर छूट आऊँ तो मुझे मत रखना। मेरे बच्चे तक सह सकें, आप सब सहन कर सकें और अकेली मैं ही न सह सकूँ, ऐसा आप सोचते कैसे हैं? मुझे इस लड़ाई में शामिल होना ही होगा।'

मैंने जवाब दिया : 'तो मुझे तुमको शामिल करना ही होगा। मेरी शर्त तो तुम जानती ही हो। मेरे स्वभाव से भी तुम परिचित हो। अब भी विचार करना हो, तो जरूर कर लेना और भली-भाँति सोचने के बाद यदि तुम्हें यह लगे कि शामिल नहीं होना है, तो समझना कि तुम इसके लिए आजाद हो। साथ ही, यह भी समझ लो कि निश्चय बदलने में अभी शरम की कोई बात नहीं है।'

मुझे जवाब मिला : 'मुझे विचार-विचार कुछ नहीं करना है। मेरा निश्चय ही है।'...

बापू ने लड़ाई शुरू की और उसकी शुरुआत में बा और तीन दूसरी बहनें जेल गयीं। बॉलक्रस्ट के जेल में दाखिल होने के दूसरे ही दिन जो घटना घटी, श्री प्रभुदास गांधी ने 'जीवन का प्रभात' नामक अपनी पुस्तक में उसका वर्णन दिया है। वहाँ का जेलर गुजराती नहीं जानता था और बहनें अँग्रेजी नहीं जानती थीं। उनके नाम या पते और पहचान लिख लेनी थी। जेलर ने श्री छगनलाल गांधी को दुभाषिये का काम करने के लिए आफिस में बुलाया और कारकुन से कहा कि वह सवालों के जवाब ले ले :

कारकुन (बा को दिखाकर) : ये जो खड़ी हैं, इनका नाम पूछो।

छगनलाल गांधी (बा से) : इस कृष्ण-भवन की पहली रात कैसे बीती?

बा : हम तो अँधेरा होने के बाद भजन-कीर्तन करके आराम से सो गयीं।

छगनलाल गांधी (कारकुन से) : इनका नाम कस्तूरबा।

कारकुन (बा को दिखाकर) : इनकी शादी हुई है?

छगनलाल गांधी (बा से) : रात ब्यालू किया था?

बा : मुझको तो फलाहार चाहिए। इन सबने तो आये हुए रोटी और साग को सूँघकर रख दिया। कहने लगीं, ऐसे घिनौने बरतन में कैसे खाया जाए? और ऐसा बसाता साग कोई मुँह में कैसे डाले?

छगनलाल गांधी (कारकुन से) : इनकी शादी हुई है। इनके पति का नाम मोहनदास करमचन्द है। इसके बाद उमर, जात, वतन वगैरा के बारे में एक के बाद एक चारों से सवाल पूछे गये और छगनलाल गांधी ने पहली रात के पूरे समाचार जाने और पहुँचाए। बा के फलाहार के बारे में भी चर्चा की और उन्हें बताया कि हनुमान जी (मिस्टर कैलनबेक) वॉलक्रस्ट आ पहुँचे हैं और खबर यह है कि वे जेल से मिलकर फल पहुँचाने का बन्दोबस्त करने वाले हैं।

लेकिन तीन-चार दिन में सबका तबादला मैरित्सबर्ग जेल में हो गया। तबादला होने से पहले खबर आयी कि बा को फल नहीं दिये गये और बा की तो प्रतिज्ञा थी कि कुछ भी क्यों न हो, जेल में फलाहार ही करेंगी। अगर जेल वाले फलों का इन्तजाम न करें तो भूखों रहना, मरने की नौबत आये तो मर जाना। जेल के अधिकारियों ने इस प्रतिज्ञा की कोई परवाह नहीं की और कहा : 'ऐसे ढोंग करने थे तो जेल क्यों आयीं ?'

बा इस तरह की अँग्रेजी तो अफ्रीका से आने के बाद यहाँ भी बोलती थीं। आश्रम में आने वाले गोरे मेहमानों का स्वागत करना, उनके कुशल-समाचार पूछना, उनकी जरूरतों के बारे में पूछताछ करना वगैरा मामूली बातचीत बा अच्छी तरह कर सकती थीं। इस प्रकार वे अँग्रेजी बोलना तो जानती थीं, लेकिन सन् 1930 के जेल-जीवन में 60 साल की उम्र में उन्होंने जेल के अन्दर अँग्रेजी लिखना-पढ़ना सीखने की जो कोशिश शुरू की थी,

बा के लिए दूसरा कोई उपाय न रह गया। उन्होंने उपवास शुरू किया। एक दिन, दो, तीन दिन हो गये, इतने में उन पर हुकूमत चलानेवाली मैट्रन ठण्डी पड़ गयी। बोली : 'हमें तो सुबह एक वक्त की चाय नहीं मिलती, तो हमारा सिर घूमने लगता है और तुम दुबली-पतली होकर तीन-तीन दिन बिना खाये कैसे रहती हो? हम लाचार हैं। तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सकते। जेल में मुँह-माँगा खाने को नहीं मिलता। मेहरबानी करके जो खाना मिलता है, उसी से काम चलाओ।'

पाँचवे दिन सरकार झुकी और बा को फल मिले। लेकिन वे इतनी कम तादाद में मिलते कि दरअसल बा को तीन महीने आधे पेट ही रहना पड़ा। सिर्फ तीन केले, चार 'प्रुन्स', दो टमाटर और दो नीबू मिलते थे। इसमें मूँगफली जैसी एक भी चीज नहीं थी, जिससे घी, तेल की गरज पूरी होती। तीन महीने बाद जब बा जेल के दरवाजे से बाहर आयीं, तो बिल्कुल हड्डियों का ढाँचा ही रह गयी थीं। उनके दर्शन करने वालों की आँखों में आँसू टपके बिना न रहे।

बा की अँग्रेजी

यह स्वाभाविक है कि अफ्रीका में चारों तरफ का वातावरण अँग्रेजी से भरा हो। बापू के साथी ज्यादातर अँग्रेज होते थे। बाद में जब हिन्दुस्तान आये, तो यहाँ भी आश्रम में कई भाषाएँ बोलनेवालों का जमघट रहा। इसलिए आश्रम में भी अँग्रेजी का ठीक-ठीक उपयोग करने की जरूरत रही। इसलिए हालाँकि बा अँग्रेजी पढ़ी नहीं थीं, तो भी मौका पड़ने पर वे इधर-उधर के अंग्रेजी शब्दों से अपना काम चला सकती थीं।

श्रीमती पोलाक विलायत से दक्षिण अफ्रीका आयी थीं और मिस्टर पोलाक के साथ ब्याह करके बापू के घर में ही रहने लगी थीं। वे लिखती हैं : 'बा टूटी-फूटी अँग्रेजी बोल लेती थीं, लेकिन ज्यादा नहीं। पहले दिन तो हम परस्पर बहुत मिली भी नहीं थीं। लेकिन दूसरे ही दिन से जब गांधीजी और मेरे पति दफ्तर चले गये, तो हम दोनों घर में अकेली रह गयीं। फिर तो हमें किसी भी तरह एक-दूसरे से बातचीत करनी ही पड़ी। कुछ ही समय में बा की अँग्रेजी सुधर गयी और मेरे साथ का उनका संकोच भी दूर हो गया। फिर तो जब हम अँग्रेज मित्रों से मिलने जातीं, तो वहाँ भी वे बातचीत में अच्छी तरह शामिल होतीं।'

बा वहाँ कैसी अँग्रेजी बोलती थीं, इसकी कुछ मिसालें श्रीमती पोलाक की 'Mr. Gandhi–The Man' नाम की किताब से यहाँ देती हूँ। एक बार की बात है। मिस्टर पोलाक बापूजी से कुछ नाराज हो गये थे। वे घर में किसी से बोलते नहीं थे और बेचैन रहा करते थे। इस पर बा ने श्रीमती पोलाक से पूछा : 'What the matter Mr. Polak? What for he cross?'— मिस्टर पोलाक को क्या हुआ? वे इतने नाराज क्यों दीखते हैं?

श्रीमती पोलाक ने कहा : 'बापू पर गुस्सा हुए हैं।'

तब बा ने पूछा : 'What for he cross Bapu? What Bapu done?'— बापू पर गुस्सा क्यों हुए हैं? बापू ने क्या किया है?

इसके बाद श्रीमती पोलाक ने इस सम्बन्ध की सारी हकीकत बा को कह सुनाई। उस पर बा ने जवाब दिया : 'Oh, Oh!'— हाँ, हाँ।

श्रीमती पोलाक इस 'हाँ-हाँ' का यह अर्थ करती हैं कि मिस्टर पोलाक बापू पर गुस्सा हुए, इसका बा को कोई दुःख

नहीं हुआ, क्योंकि वे खुद भी इस मामले में बापू पर नाराज होती थीं; और बापू के लिए इतना प्रेम रखने वाले आदमी को उनसे नाराज होने का कारण मिलता है, इससे बा को हिम्मत बँधी कि उनका नाराज होना भी सकारण ही होता है।

बा इस तरह की अँग्रेजी तो अफ्रीका से आने के बाद यहाँ भी बोलती थीं। आश्रम में आने वाले गोरे मेहमानों का स्वागत करना, उनके कुशल-समाचार पूछना, उनकी जरूरतों के बारे में पूछताछ करना वगैरा मामूली बातचीत बा अच्छी तरह कर सकती थीं। इस प्रकार वे अँग्रेजी बोलना तो जानती थीं, लेकिन सन् 1930 के जेल-जीवन में 60 साल की उम्र में उन्होंने जेल के अन्दर अँग्रेजी लिखना-पढ़ना सीखने की जो कोशिश शुरू की थी, उसके बारे में सौ० लाभुबहन, जो जेल में उनके साथ ही थीं, 'स्त्री-जीवन' मासिक के बा-सम्बन्धी विशेषांक में इस प्रकार लिखती हैं :

'बा को पता चला कि मैं अँग्रेजी जानती हूँ और उन्होंने मुझसे अँग्रेजी पढ़ना शुरू किया। इतनी बड़ी उम्र में, इतने बड़े पद को पहुँचने के बाद भी, मेरे पास बैठकर अँग्रेजी सीखने में उनको न तो हीनता मालूम हुई, न शरम। उन्हें तो एक ही धुन लगी थी कि खुद बापू का पता अँग्रेजी में लिख सकें। 'ए,बी,सी,डी' पर लगातार कई-कई दिन तक मेहनत करने पर भी वे कभी उकताईं नहीं। एक ही नाम को 20-25 बार लिखते वे कभी थकीं नहीं और न जल्दी-जल्दी नये-नये शब्दों या वाक्यों को सीख लेने की उन्होंने कभी इच्छा की। वे कहा करतीं : 'अँग्रेजी आ जाए तो बापू को पत्र लिखती हूँ, उसका पता तो किसी से न लिखवाना पड़े? और ढेर-की-ढेर जो डाक आती है, उसमें से मेरा पत्र खुद ही पहचाना जा सके न?'

पूज्य बापूजी सन् 1922 से 1924 तक यरवदा जेल में थे। वहाँ उन्होंने एक कैदी की खुराक के लिए सुपरिण्टेंडेण्ट के सामने कुछ माँगें पेश की थीं। सुपरिण्टेंडेण्ट ने उन्हें नामंजूर कर दिया, इससे बापूजी को बहुत बूरा मालूम हुआ और उन्होंने सिर्फ दूध ही पर रहने का निश्चय किया। इस तरह चार हफ्ते बीत गये और इस बीच उनका वजन 104 से 90 पौंड पर आ गया। जब बा के साथ परिवार के कुछ लोग उनसे मिलने गये, तो जीना चढ़ते हुए बापू के पैर कुछ लड़खड़ाये। बा ने बापू की यह हालत देखी और इसका कारण पूछा। बापू को अनिच्छापूर्वक अपनी सारी बात बा से कहनी पड़ी। सबने एक होकर बापू से आग्रह किया कि वे इस प्रयोग को छोड़ दें और फल लेने लगें। बापू ने बात मंजूर भी कर ली।

यह देखकर यरवदा के सुपरिण्टेंडेण्ट ने बा से कहा : 'मिस्टर गांधी यह जो सब करते हैं, इसमें मेरा कोई कसूर नहीं।'

बा ने जवाब दिया : 'Yes, I know my husband. He always mischief.'

क्या इस वाक्य में बा ने, अपनी टूटी-फूटी अँग्रेजी में ही क्यों न हो, बापू के सारे चारित्र्य का निरूपण नहीं कर डाला है? 'मैं अपने पति को पहचानती हूँ। वे कभी चुप बैठनेवाले नहीं हैं। उन्हें रोज कुछ-न-कुछ शरारत ही सूझती है।' क्या इन शब्दों में बापू के समूचे जीवन-चरित्र का सार नहीं समा जाता? 1893 में वे दक्षिण अफ्रीका पहुँचे, तब से आज तक वे इन 59 वर्षों में बापू कभी चैन से बैठे हैं? आज सारी दुनिया में एक क्षण भी चैन से न बैठनेवाला और दूसरों को न बैठने देनेवाला बापू के जैसा दूसरा कौन होगा? बापू की रग-रग को जाननेवाली बा को छोड़कर ऐसे एक वाक्य में उनके चारित्र्य का इतना हूबहू और गम्भीर अर्थोंवाला वर्णन और कौन कर सकता है? और इस वर्णन में अँग्रेजी भाषा का अधूरा ज्ञान भी उनके लिए बाधक नहीं बना। अच्छे-अच्छे अँग्रेजीदाँ भी क्या ऐसे एक वाक्य में बापू का वर्णन कर सकते थे?

जिस तरह बा को बूट-मोजे कई महीनों तक अटपटे लगे, उसी तरह उनको खादी पहनाने में भी बापू को कई महीने नहीं तो कुछ दिन जरूर लगे थे। रोलट-एक्ट के खिलाफ, शुरू की गयी सत्याग्रह की लड़ाई को मुलतवी करने के बाद बापू ने 'स्वदेशी' के काम को बहुत जोर-शोर से उठाया। उस समय वे स्वदेशी-व्रत में कुछ महीनों तक तो मिल के कपड़े को भी मंजूर रखा गया था, लेकिन कुछ ही समय में बापू ने देख लिया कि मिल के कपड़े का प्रचारक बनने की हमें जरूरत नहीं।

खादी-परिधान

बा को अपनी पोशाक में और कपड़ों की पसन्दगी में बापू की इच्छा और सूचना पर चलना पड़ा है, या यों कहिए कि बा चली है। सन् 1919-20 में बा ने खादी धारण की। उसका जिक्र करने से पहले हम यह देख लें कि सन् 1896 में दक्षिण अफ्रीका जाते समय बापू ने बा की पोशाक में किस तरह का हेर-फेर कराया था। बापूजी आत्मकथा में कहते हैं :

'परिवार के साथ यह मेरी पहली समुद्र-यात्रा थी। मैंने कई बार लिखा है कि हिन्दुओं की गृहस्थी में बचपन में शादी होने के कारण और मध्यम श्रेणी के लोगों में अधिकतर पति के शिक्षित और पत्नी के निरक्षर होने के कारण, पति-पत्नी के जीवन में फर्क रहता है और पति को पत्नी का शिक्षक बनना पड़ता है। मुझको अपनी धर्मपत्नी की और बालकों की पोशाक का, खाने-पहनने का और बातचीत का बहुत खयाल रखना पड़ता था। मुझे उन्हें रीति-रिवाज सिखाने होते थे। उनमें से कुछ की याद आज भी मुझको हँसाती है। हिन्दू पत्नी पतिपरायणता में अपने धर्म की पराकाष्ठा मानती है। हिन्दू पति अपने को पत्नी का ईश्वर समझता है, इसलिए पत्नी को जैसा वह नचावे नाचना पड़ता है।'

'जिन दिनों की बात मैं लिख रहा हूँ, उन दिनों मैं मानता था कि सुधरे हुओं में अपनी गिनती कराने के लिए हमें अपना बाहरी आचरण भरसक यूरोपियनों से मिलता-जुलता रखना चाहिए। ऐसा करने से ही रोब पड़ता है, और रोब पड़े बिना देशभक्ति नहीं हो सकती।'

'इसलिए पत्नी की और बालकों की पोशाक मैंने ही पसन्द की। बच्चों वगैरा का काठियावाड़ के बनियों के रूप में परिचय देना कैसे अच्छा लगता? पारसी ज्यादा से ज्यादा सुधरे हुए माने जाते हैं, इसलिए जहाँ यूरोपियन पोशाक की नकल करना जँचा ही नहीं, वहाँ पारसी पोशाक-की नकल की। पत्नी के लिए पारसी बहनों के तर्ज की साड़ियाँ लीं। बच्चों के लिए पारसी कोट-पतलून बनवाये। सबके लिए बूट-मोजे तो होने ही चाहिए। पत्नी और बच्चों को दोनों चीजें कई महीनों तक अच्छी न लगीं। बूट काटते, मोजे बदबू देते, पैर तंग रहते। इन अड़चनों के उत्तर मेरे पास तैयार थे और उत्तरों के औचित्य के मुकाबले हुक्म की ताकत तो ज्यादा थी ही। इसलिए पत्नी ने और बच्चों ने लाचारी के साथ पोशाक के इस हेर-फेर को मंजूर किया। उतनी ही लाचारी से और उससे भी अधिक अरुचि से वे खाते समय छुरी-काँटे का इस्तेमाल करने लगे। जब मेरा मोह उत्तरा, तब फिर से उन्होंने बूट-मोजे और छुरी-कांटे वगैरा का त्याग किया। शुरू का परिवर्तन जिस तरह दु:खदायी था, उसी तरह आदत पड़ जाने के बाद उसे छोड़ना भी दु:ख देनेवाला था। लेकिन अब मैं देखता हूँ कि हम सब सुधारों की केंचुली उतारकर हलके हो गए हैं।'

जिस तरह बा को बूट-मोजे कई महीनों तक अटपटे लगे, उसी तरह उनको खादी पहनाने में भी बापू को कई महीने नहीं तो कुछ दिन जरूर लगे थे। रोलट-एक्ट के खिलाफ, शुरू की गयी सत्याग्रह की लड़ाई को मुलतवी करने के बाद बापू ने 'स्वदेशी' के काम को बहुत जोर-शोर से उठाया। उस समय वे स्वदेशी-व्रत में कुछ महीनों तक तो मिल के कपड़े को भी मंजूर रखा गया था, लेकिन कुछ ही समय में बापू ने देख लिया कि मिल के कपड़े का प्रचारक बनने की हमें जरूरत नहीं। असली जरूरत तो परदेश में आनेवाले कपड़े की रोक के लिए ज्यादा कपड़ा पैदा करने की है, और यह काम चरखे जरिये ही अच्छी तरह हो सकता है। इसलिए बापू ने सबसे आग्रह करना शुरू किया कि वे चरखा चलाएँ और खादी पहनें। लेकिन उन दिनों बड़े अर्ज की खादी तो बनती नहीं थी। 37 ईंच पने की खादी भी मुश्किल से बुनी जाती थी और अगर धोती या साड़ी खादी की पहननी हो, तो 6 या 8 नम्बर के असमान सूत की और कम अर्ज की ऐसी खादी को जोड़ कर ही पहनी जा सकती थी। इस तरह जोड़कर बनायी गयी साड़ी का वजन 2 से 3 पौण्ड होता होगा। जो बहनें यह दलील करतीं कि ऐसी साड़ी तो बहुत भारी पड़ती है, हमसे उठ भी नहीं सकती, उनसे बापू कभी-कभी कहते कि नौ-नौ महीनों तक बच्चे को पेट में धारण करनेवाली बहनों को देश के खातिर, अपनी गरीब बहनों की आबरू के खातिर, यह इतनी-सी साड़ी भारी क्यों लगनी चाहिए?

आश्रम में भी बापू रोज सब बहनों को खादी पहनने के लिए समझाते। बापू की उस दलील को सुनकर साड़ी के वजन की दलील तो कोई बहन न करती, लेकिन रोज धोने की मुश्किल वाली दलील बहनें बहुत जोर के साथ पेश किया करतीं। इस पर बापूजी कहते कि हम तुम्हारी साड़ियाँ धो देंगे। इस तरह हँसी-विनोद होता रहता। इन सब दलीलों में बा बहनों की अगुआ बनतीं। बापू अकसर कहते : 'बा को बूट और मोजे पहनाने में मुझे उनकी कुछ कम खुशामद नहीं करनी पड़ी। और उनको फिर से छुड़वाते समय भी थोड़ी खुशामद तो करनी ही पड़ी थी। लेकिन अब देखता हूँ कि बूट-मोजे पहनाने में जितनी खुशामद करनी पड़ी थी, खादी की साड़ी पहनाने में उससे ज्यादा खुशामद करनी पड़ेगी।' जहाँ तक मैं जान पायी हूँ, उसके मुताबिक तो श्री सरलादेवी चौधरानी ने पहले-पहल खादी की साड़ी पहनी थी। शायद सारे देश में सबसे पहले खादी की साड़ी पहननेवालियों में वही प्रथम रही हों। उन दिनों वे आश्रम में ही रहती थीं। फिर तो तुरन्त ही बा ने भी खादी की साड़ी धारण की और कुछ ही समय में सब बहनें खादी पहनने लग गयीं। बाद में तो बड़े अर्ज की खादी भी बुनी जाने लगी और खुद कातनेवालों के लिए तो साड़ी की कोई कठिनाई ही नहीं रह गयी।

इसके बाद तो बा को खादी से कितना प्रेम हो गया था, इसका सूचक एक उदाहरण यहाँ देती हूँ। एक दिन बा के पैर की छोटी उँगुली से खून निकला। बा खादी की पट्टी बाँधने जा रही थीं, इतने में एक बहन ने महीन कपड़े की पट्टी ला दी और कहा : 'इस महीन कपड़े से रगड़ नहीं लगेगी और पट्टी अच्छी तरह बँधेगी।' 'परन्तु मुझे तो खादी की पट्टी ही चाहिए। वह खुरदरी भी होगी तो मुझे नहीं चुभेगी,' कहकर बा ने खादी की ही पट्टी बाँधी।

जब बापू जी ने आगाखान महल में उपवास शुरू किया तो उनसे मिलने के लिए गयी एक आश्रमवासिनी बाला से बा ने सेवाग्राम में पड़े हुए अपने कपड़े भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को बाँट देने के लिए कहा और सूचना की : 'बापूजी के अपने हाथ से कती और मेरे लिए खास तौर पर तैयार की गयी साड़ी तो मुझे जेल में भेज ही देना। मृत्यु के बाद मेरी देह पर वह साड़ी लपेटनी है।'

आमतौर पर बा की साड़ी बापू के काते सूत की ही बनती थी। और बा चिता पर चढ़ीं, सो भी बापू के हाथ से कते सूत की साड़ी पहनकर ही।

बा की दिनचर्या

इस अध्याय में मैं यह बता देना चाहती हूँ कि आमतौर पर बा अपना दिन किस तरह बिताती थीं। इसमें बापू की सेवा-टहल सूरज की तरह मुख्य थी, बाकी का सारा वक्त 'बा' के नाते और आश्रमवासिनी के नाते अपने धर्म का पालन करने में बीतता था। किसी को पता भी नहीं चलता था कि वे अपने निजी कामों से कब निबट लेती थीं।

बा हमेशा सुबह 4 बजे प्रार्थना के समय उठने का आग्रह रखतीं। प्रार्थना के बाद बापूजी को आधा-पौन घण्टा सो जाने की आदत है। लेकिन बा उठने के बाद फिर सोती नहीं थीं। वे तो बापूजी के फिर से जागने के पहले उनके लिए गरम पानी और शहद या जो भी कुछ बापू सबेरे लेने वाले हों, सो तैयार करने या कराने में लग जातीं। 'कराने में' इस लिए लिख रही हूँ कि बापू के ऐसे निजी कामों को करने की बहुतों को इच्छा रहती और इसके लिए कभी-कभी आपस में होड़ाहोड़ी भी होती। बा ऐसे उम्मीदवारों को बापू जी को सेवा के काम बाँट देतीं। लेकिन काम किसी को भी क्यों न सौंपा हो, बा सामने खड़ी रहकर देखतीं कि काम ठीक हो रहा है या नहीं। बा का इस तरह खड़ा रहना कुछ मतलब रखता था। श्री कुसुमबहन देसाई ने इसका एक उदाहरण दिया है। एक बार अलीगढ़ में बापूजी का दूध छानने की सेवा एक भाई ने बहुत हठ करके बा से माँग ली। दूध छानकर बापूजी को दिया गया। बापूजी को दूध में एक बाल दिखाई पड़ा। बा से पूछने पर उन्होंने सारी बात बता दी। बापू जी ने कहा : 'नतीजा देखा न? दूध में बाल रह गया।' उस दिन बापू ने दूध नहीं लिया। बा को बहुत क्लेश रहा। उन्होंने कहा : ''किसी को करने न दूँ तो उसका दिल दुखता है और करने देती हूँ तो काम ठीक नहीं हो पाता। दिन-रात एक-सी सिरपच्ची करना, और पेट में देखो तो एक जून की भी जमा नहीं।''

इसलिए आमतौर पर बा ने रिवाज यह रखा था कि काम दूसरों ने किया हो, तो भी बरतन भली-भाँति साफ हुए हैं या नहीं, चीज अच्छी तरह बनी है या नहीं, सो वे खुद ही देख लेती थीं और, खुद ही बापूजी के पास ले जाती थीं। और चीज खाने की हो या पीने की, जब तक बापू उसे खा-पी न लें, बा उनके पास ही बैठी रहतीं। इसके बाद वे यह देख लेतीं कि बरतन ठीक से साफ होकर जगह पर रखे गये हैं या नहीं। कभी किसी लड़की ने बरतन मले हों और वे अच्छी तरह साफ न हुए हों, तो बा खुद उन्हें दुबारा साफ कर लेतीं। बरतनों को हमेशा चमकीले रखने की बा को आदत ही थी।

बापू सबेरे कोई 7 बजे घूमने निकलते। उस समय बा अपने स्नान वगैरा कामों से निपट लेतीं और पूजा-पाठ में बैठतीं। घी के दीये और अगरबत्ती की धूप के साथ करीब एक घण्टा गीता जी का और तुलसी-रामायण का पाठ करतीं। इसके बाद बा रसोईघर में पहुँच जातीं। रसोईघर में कहाँ क्या हो रहा है, इसे वे तुरन्त एक निगाह देख लेतीं और किसी को

कुछ सुझाना हो तो सुझातीं। रसोईघर में कोई चीज खुली पड़ी हो, फाजिल साग-सब्जी, फाजिल फल वगैरा बिगड़ने की हालत में हों तो बा उन्हें फौरन ही देख लेतीं। वे बहुत स्पष्टवक्ता थीं, इसलिए जिसको जो कहना होता, साफ-साफ कह देतीं। मुँह से हाँ-हाँ कहने और अपने अंगीकृत काम को भली-भान्ति न करने वालों के लिए बा की बड़ी नाराजी रहा करती थी। इसलिए नये आये हुए लोगों को कभी-कभी बा की बात का बुरा भी लग जाता। बा चाहती थीं कि तमाम चीजें और कपड़े वगैरा सभी कुछ ठीक से जमाकर अपनी जगह रखे जाने चाहिए। कहीं कुछ बेठिकाने देखतीं, तो बा खुद उसे सहजने लग जातीं। बा की किसी बात से किसी के नाराज होने की खबर बापू तक पहुँचती, तो वे कहते : 'अगर बा के पास थोड़ा-बहुत कड़वा नीम है, तो मीठी शकर की तो इफरात ही है।'

जैसा कि अभी कहा है, बापू जी का भोजन तो बा खुद ही तैयार करतीं या किसी और ने करने का जिम्मा लिया होता, तो वे खुद वहाँ खड़ी रहतीं। बापू के लिए बनायी गयी खस्ता रोटी एक गोल डिब्बे में रखी जाती हैं। सभी रोटियाँ डिब्बे में बराबर जमाकर रखी गई हैं या नहीं, सभी एक से आकार की हैं या नहीं, कोई मोटी-पतली तो नहीं है, किसी की किनार तो फटी नहीं है, अधिक सिकने से किसी पर दाग तो नहीं पड़ गया है या कोई कच्ची तो नहीं रह गयी हैं, उसमें नमक और सोड़ा ठीक पड़ा है या नहीं, सो सब बा खुद ही देख लेतीं। बा स्वयं रसोई बनाने के काम में बहुत ही निपुण थीं। इसलिए जब वे खुद 'खाखरे' (खस्ता रोटी) बनातीं, तब तो वे आदर्श 'खाखरे' बनते और बापू को भी पता चल जाता कि आज 'खाखरे' बा ने बनाये हैं।

भोजन की घण्टी बजती और सब भोजनालय में आ पहुँचते। तब बापूजी को और खास मेहमानों को परोसकर बा बापू जी के पास ही खाने बैठ जातीं। उस वक्त भी उनकी एक आँख तो बापू की तरफ ही रहती। बापू के पास एक मक्खी भी आते देखतीं, तो उनका बायाँ हाथ पंखे को सम्भाल ही लेता। खाने के बाद बापू के साथ भोजनालय से उनके कमरे में आतीं और जब बापू अखबार पढ़ने लगते, तो वे उनके तलवों में घी मलतीं। जब बापू की आँख लग जाती, तो बा उठकर अपने कमरे में जातीं और जरा देर लेटतीं। 15-20 मिनट के बाद उठकर मुँह धोतीं और खुद अखबार पढ़तीं।

यों बा की गिनती कम पढ़े-लिखों में और राजकाज को न जानने-वालों में की जाएगी। लेकिन बा अखबारों के जरिये और बातचीत के मारफत देश की मौजूदा हालत से खूब परिचित रहती थीं। गुजरात-काठियावाड़ की खबरें जानने के लिए वे बिलानागा 'वन्देमातरम्' और 'गुजरात समाचार' पढ़ा करती थीं। हर हफ्ते 'हरिजनबन्धु' आता। बा उसे भी रोज थोड़ा-थोड़ा करके शुरू से आखीर तक पढ़ जातीं, ताकि जुदा-जुदा कार्यक्रमों के बारे में उन्हें बापूजी के विचार जानने को मिल सकें। अखबार पढ़कर दुनिया की मुसीबतों व तकलीफों से बा को बहुत दुःख होता। एक बार इस लड़ाई के बारे में बा ने कहा : 'क्या यह लड़ाई दुनिया को तबाह करके ही बन्द होगी?' बंगाल के भीषण अकाल की खबरें पढ़कर बा ने आगाखान महल से लिखे पत्र में लिखा : 'बंगाल के समाचार सुनकर तो दिल फटता है। वहाँ तो आसमान फट पड़ा है। न जाने ईश्वर क्या कर रहा है?'

बचपन में तो बा पढ़ न सकीं, लेकिन बाद में उन्हें पढ़ने का शौक हो गया था। हर दिन एक-आध घण्टा तो वे किसी-न-किसी के पास बैठकर कुछ-न-कुछ पढ़ा ही करतीं। राष्ट्रभाषा के नाते हिन्दुस्तानी की अच्छी जानकारी होनी चाहिए, इस खयाल से वे कई दफा हिन्दी का अभ्यास करतीं। या कभी किसी की मदद से तुलसीरामायण अथवा गीता जी का अभ्यास करतीं। गीता जी के श्लोकों को सही-सही पढ़ने और उन्हें जबानी याद करने की वे बराबर कोशिश करती रहतीं। आखिर-आखिर में उन्होंने आगाखान महल में बापू से गीता जी के श्लोकों का शुद्ध उच्चारण सीखना शुरू किया था। जब 75 साल की बा 75 साल के बापू के सामने बैठकर एक निष्ठावान शिष्य के से उत्साह से गीता सीखती होंगी, तो वह दृश्य श्रद्धा के साथ सीखतीं, और इतनी उम्र हो जाने के बाद भी विनम्र विद्यार्थी की तरह सीखने बैठतीं। उन्हें कुछ लिखने को दिया जाता, तो उसे भी वे छोटे विद्यार्थी जिस तरह अपना सबक तैयार करके लाते हैं, उसी तरह दूसरे दिन लिखकर लातीं और कितनी ही गलतियाँ क्यों न हुई हों, उन्हें सुधार कर दुबारा लिखने में वे कभी उकताती नहीं थीं।

अखबार और पढ़ाई के काम से फुरसत पाकर वे कातने बैठतीं। हर रोज 400 से 500 तार बराबर काततीं। कताई उनकी तभी रुकती थी, जब वे बीमार की वजह से बिछौने में पड़ी हों। बीमारी से उठने पर कमजोर रहने पर भी वे कताई शुरू कर देतीं। आश्रम में प्रार्थना के बाद रोज किसने कितना सूत काता, इसका लेखा लिखा जाता है। बा उसमें ज्यादा सूत कातनेवालों में होतीं।

इतना करते-करते चार का समय हो जाता और बा फिर रसोई में पहुँच जातीं। वहाँ बापू का खाना तैयार करतीं या करातीं और दूसरे कामों को भी एक निगाह देख जातीं। 5 बजे

बापूजी खाने बैठते, तब उनके पास बैठतीं। कई सालों से बा ने शाम का का खाना छोड़ रखा था। सिर्फ कॉफी पी लेती थीं और पिछले कोई चार सालों से तो कॉफी भी छोड़ दी थीं। दूध में तुलसी और काली मिर्च डालकर उसे थोड़ा उबालतीं और पी लेतीं।

शाम को बापू घूमने जाते तब बा आश्रम में कोई बीमार होता तो उसके पास जाकर बैठतीं। और फिर दूसरी बहनों के साथ वे भी घूमने निकलतीं और आश्रम से कुछ दूर जाने पर जब बापू सामने से आते मिलते, तो उनके साथ लौट आतीं।

घूमकर आने के बाद शाम की प्रार्थना होती। उसमें बा तो रहतीं ही। शाम की प्रार्थना में रामायण गायी जाती और उसमें भी बा बराबर शामिल होतीं।

प्रार्थना के बाद कुछ देर तक बा सब बहनों के साथ बातचीत करतीं और फिर अपने और बापू के सोने की तैयारी में लग जातीं। सोने से पहले बापू के सिर में तेल मलने का काम करीब-करीब आखीर तक वे ही नियमित रीति से करती रहीं। सुबह फिर 4 बजे उठतीं और वही चक्र बराबर चलता रहता।

इस तरह बा की दिनचर्या में बापू की परिचर्या एक खास अंग थी। इसके बारे में मीराबहन लिखती हैं :

'मैंने भी कई सालों तक बापू की सेवा-चाकरी की है। इस बीच मुझे बा के अद्‌भुत गुणों का दर्शन हुआ है। अकसर यह होता कि बापू की निजी जरूरतों की खबरदारी रखने का काम सिर्फ हम दोनों पर आ पड़ता। बापू के तूफानी दौरों में तो बहुतेरी अड़चनें और कठिनाइयाँ रहतीं, लेकिन बा अचूक नियमितता से, बिना थके, इस काम को बड़ी खूबी के साथ किया करतीं। बापू के लिए खाना तैयार करने और उनकी मालिश करने का काम तो वे अपने ही हाथ में रखतीं। उसमें जहाँ-तहाँ थोड़ी मदद मुझसे भी ले लेतीं। कपड़े धोने और सामान बाँधने-खोलने का काम मेरे जिम्मे था। लेकिन उसमें भी बा की पैनी नजर-बराबर मेरे काम पर बनी ही रहती। बा मानो कभी थकती ही नहीं थीं। सभाओं और मुलाकातों में बापू को रात कितनी ही देर क्यों न हो जाए, बा उनके सिर में तेल मलने और उनके थके-माँदे शरीर को दबाने के लिए उनकी राह देखती बैठी ही रहतीं। और फिर सुबह चार बजे प्रार्थना में हाजिर रहकर पुन: बापू की सेवा में लग जातीं। वे गैरजरूरी बातें करके बापू का वक्त कभी खराब नहीं करतीं। बापू के आसपास के सभी लोगों में वे बापू को कम-से-कम तकलीफ देतीं और उनकी ज्यादा-से-ज्यादा सेवा करतीं।'

'अन्त-अन्त में जब वे बीमार रहने लगीं, तो बापू का काम खुद नहीं कर पाती थीं। लेकिन उस पर निगरानी रखने का अपना काम तो उन्होंने ठेठ आखिरी घड़ी तक नहीं छोड़ा था। जब आगाखान महल में उनकी तबीयत बड़ी तेजी के साथ खराब हो रही थी, वे एक कमरे से दूसरे कमरे में चलकर जा भी नहीं सकती थीं, तब उन्हें पहियोंवाली कुर्सी में बैठाकर घुमाना पड़ता था। एक दिन वे बरामदे में अपने बिछौने पर लेटी-लेटी बापू को शाम का भोजन करते देख रही थीं। अन्दर कमरे में जाने का वक्त हो चुका था। इसलिए वह पहियेदार कुर्सी लेकर मैं बा के पास पहुँची और मैंने कहा : 'बा चलिए, अन्दर जाने का वक्त हो गया है।' बा ने जवाब दिया : 'जरा ठहरो, बापूजी खा चुकें तो चलें।' इस तरह बीमारी के बिछौने पर पड़े-पड़े भी उनका जी बापूजी की सेवा में रहता था।'

बचपन में तो बा पढ़ न सकीं, लेकिन बाद में उन्हें पढ़ने का शौक हो गया था। हर दिन एक-आध घण्टा तो वे किसी-न-किसी के पास बैठकर कुछ-न-कुछ पढ़ा ही करतीं। राष्ट्रभाषा के नाते हिन्दुस्तानी की अच्छी जानकारी होनी चाहिए, इस खयाल से वे कई दफा हिन्दी का अभ्यास करतीं। या कभी किसी की मदद से तुलसीरामायण अथवा गीता जी का अभ्यास करतीं।

बा के समान निष्ठावान परिचारिका की कमी बापू को आजकल कितनी खटकती है, उसका कुछ खयाल नीचे की दो घटनाओं से आ सकेगा।

बिल्कुल अभी-अभी की बात है। एक दिन मैं बापू के पास बैठी थी। उनका खाना रोज ठीक साढ़े ग्यारह बजे आता है, लेकिन उस दिन पौने बारह को आया। इस पर खाना लाने वाली बहन से बापू ने कहा : 'हमें यह समझ लेना है कि बा हमेशा यहाँ मौजूद ही हैं। बा ठहरे हुए वक्त से एक मिनट की भी देर करके खाना नहीं लाती थीं, और अगर किसी दूसरे को यह काम सौंपा हो और एक मिनट की भी देर हो जाए, तो वे 'धड़फड़' करने लग जातीं। फौरन उठकर रसोई में जातीं और वहाँ होहल्ला मचा देतीं। आगाखान महल में वे बीमार थीं और उनसे कुछ हो नहीं पाता था, तब भी वे घड़ी के काँटे पर नजर रखतीं और वक्त पर मेरा खाना न आता तो शोर मचा देतीं। मैं कहता कि यहाँ कौन वक्त की पाबन्दी करनी है? थोड़ी देर भी हो गयी तो क्या हुआ? तो बा फौरन ही जवाब देतीं—लेकिन मैं जानती हूँ न कि आप यहाँ भी अपने वक्त का पूरा खयाल रखते हैं। तो फिर थोड़ी भी देर क्यों होनी चाहिए।'

इधर दोपहर के भोजन के बाद बापू पैरों में घी की मालिश

करवाने से इनकार करते थे। सभी लड़कियाँ घी मलने का आग्रह करने लगीं, तब बहुत गमगीन आवाज में बापू ने कहा : 'मुझे घी मलवाना था, तो बा मर क्यों गईं?'

बापू की टहल करनेवाले तो बहुत हैं। अगरचे सबों के आग्रह पर बापू ने फिर से घी मलवाना शुरू तो किया, लेकिन बा की-सी लगन और भावना दूसरे कहाँ से लावें?...

कर्मयोगी बा

गीता जी में कहा है कि **योग:कर्मसु कौशलम्।** इस अर्थ में बा सचमुच कर्मयोगी थीं। एक मिनट भी बेकार बैठे रहना उनके लिखे अस्वाभाविक हो गया था। तिस पर खुद जो काम करतीं, उसे खूब कुशलता से और व्यवस्थित रीति से करती थीं। अगर यह कहें कि व्यवस्था की तो वे मूर्ति ही थीं, तो गलत न होगा। कोई चीज अपनी जगह पर न हो, तो बा की निगाह उस पर गये बिना न रहती। ''यह चीज यहाँ क्यों पड़ी है? यहाँ कोई झाड़ता-बुहारता नहीं क्या?'' वगैरा सवाल उनके मुँह से निकले बिना रहते ही नहीं, और वे खुद ही सारी चीजों को सीने से जमाने लग जातीं। जब बापू की कुटिया में जातीं, तो वहाँ भी उनकी नजर बापू के बरतनों, खड़ाऊँ, चप्पल, घड़ी, कपड़े, वगैरा पर गये बिना न रहती। घड़ी और चप्पल को पोंछकर उनकी जगह रख देतीं। बरतन बिना मले पड़े होते, तो खुद जाकर माँज लातीं। बा की इस पैनी दृष्टि के कारण उनके आसपासवालों को बहुत चौकन्ना रहना पड़ता। आश्रमवासियों में भी किसी ने कपड़े ठीक से न पहने हों, बाल ठीक से न सँवारे हों, तो बा सहज भाव से कह उठतीं : 'कपड़े ठीक से क्यों नहीं पहने? यह क्या जैसे-तैसे लथर-पथर— लपेट लिया है? बाल क्यों नहीं सँवारे?' वगैरा। बा खुद तो व्यवस्थित रहती ही थीं, लेकिन दूसरों से भी वे वैसी ही उम्मीद रखती थीं। इस वजह से जब बा के लिए रोटी या साग बनाना होता, तो बनानेवाले को खूब सावधान रहना पड़ता। लड़कियाँ तो इस कारण बा से डरा भी करतीं। बा ज्यादा तो कुछ कहती नहीं थीं, मगर टीका का एकाध शब्द जरूर कह दिया करतीं।
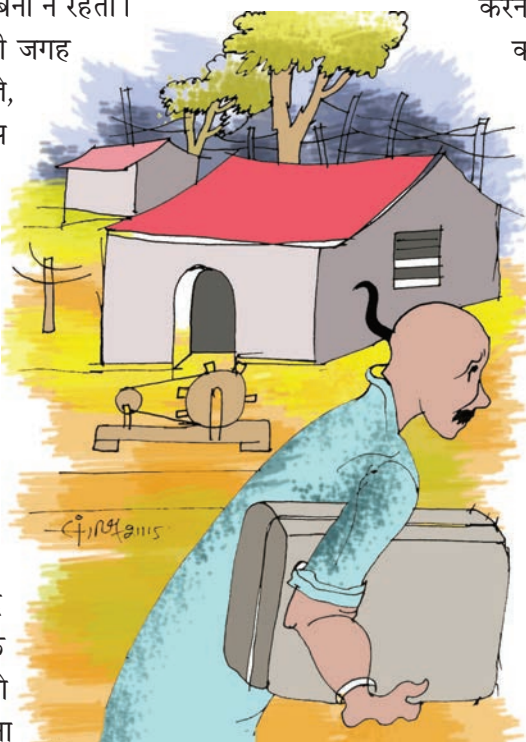
इस उम्र में भी बा में आलस्य का नाम नहीं था। बा को अलसाकर सोते तो किसी ने शायद ही कभी देखा हो। उनका उद्यम आजकल के नौजवानों को भी शरमाने वाला था। कभी रसोई में, तो कभी साग काटने में और कभी कातने में, यों एक के बाद एक उनका काम चलता ही रहता।

बा के लिए पाखाने का जुदा बन्दोबस्त कर देने का सबका बहुत आग्रह होने पर भी गरमी हो, सरदी हो या बारिश हो, वे हमेशा सार्वजनिक पाखाने का ही उपयोग करतीं। रात का 'पॉट' भी खुद ही साफ कर लिया करती। बा के कमरे में उनके साथ हमेशा दो-तीन लड़कियाँ तो होतीं ही, लेकिन बा अपना थोड़ा-सा भी काम उन लड़कियों से न करवातीं। उलटे, कभी किसी लड़की को देर हो जाती, तो खुद ही कमरा साफ करने लग जातीं। सुबह उठकर दतौन के लिए गरम पानी भी खुद रसोईघर में जाकर ले आतीं। दतौन को अपने हाथों ही कूट भी लेतीं। पिछले 5-6 साल से तो बा की तन्दुरुस्ती बहुत ही गिर गयी थी। बापू रोज बा से कहते : 'तेरी इतनी सारी लड़कियाँ हैं, फिर तू क्यों इतनी दौड़-धूप करती है?' जब बीमार होतीं, थोड़े दिन के लिए बा दूसरों से काम ले लिया करतीं। जब वे देखतीं कि फलाँ आदमी सच्चे दिल से काम करने को तैयार है, तो उसे कभी-कदास कोई काम सौंपतीं, और वह काम भी ऐसा होता कि जिसे वे खुद न कर पातीं।

बा बहुत ही स्पष्टवक्ता थीं। नये आनेवालों को कभी-कभी इससे बुरा लग जाता। लेकिन कुछ दिनों के अन्दर बा के स्वभाव को जान लेने के बाद उनकी भाषा में मिठास मालूम होने लगती। बापू जी ने कई दफा कहा है : 'मेरे और बा के निकट सम्पर्क में आनेवाले लोगों में ऐसे लोगों की तादाद ज्यादा है, जिन्हें जितनी श्रद्धा मुझ पर है, उससे कई गुनी ज्यादा श्रद्धा बा पर है।' एक दिन घनश्यामदासजी बिड़ला ने मेरे पिता जी से विनोदपूर्वक कहा : 'आपके आश्रम में सभी थोड़े-बहुत 'चक्रम'(खब्ती) तो हैं ही।'

मेरे पिताजी ने पूछा : 'क्या बापू भी?'

जवाब में उन्होंने कहा : 'हाँ, हाँ, वे तो और सबसे बड़े।

साबरमती आश्रम का तो मुझे बहुत तजुर्बा नहीं है, लेकिन सेवाग्राम में मुझे तो एक बा और दूसरी दुर्गाबहन को छोड़कर और कोई समझदार आदमी नजर नहीं आता!'

बा को अपने नाते-रिश्तेदारों और बेटों-पोतों के लिए सहज ही खूब प्रेम था। बा ने तो अपना जीवन बापू को, यानी आश्रम को सौंप दिया था, इसलिए आश्रम ही उनका घर था। कभी किसी लड़के के घर जाती जरूर थीं, लेकिन कुछ ही दिनों में वापस आ जाती थीं। आश्रम तो सार्वजनिक पैसों से चलता था, ऐसी हालत में बच्चों को कुछ दिन के लिए अपने पास बुलाना हो, या किसी के बीमार होने पर उसे अपने पास रखकर इलाज कराना हो, तो क्या किया जाए? बापू ने इसका रास्ता निकाला। बच्चे आएँ रहें और आश्रम में से किसी की सेवा लें तो आश्रम को उसका खर्च दे दिया करें। यह तो हम आसानी से सोच सकते हैं कि बा को यह चीज कितनी दुःखदायी मालूम हुई होगी। दादा-दादी के घर तो बच्चे मौज मनाने जाते हैं। बच्चों को देखकर दादी तो उन पर वारी-वारी जाती है। वहाँ ये दादा तो बच्चों को एक जून मुफ्त खिलाते भी नहीं। लेकिन धन्य है बा को! उन्होंने बापू की इस बात को भी मंजूर किया। जब बच्चे जाने को होते, बा खुद ही आश्रम के व्यवस्थापक से कह देती : 'देखिए, अब ये लोग जानेवाले हैं। इन पर जो भी खर्च हुआ हो, उसका बिल इन्हें दे दीजिएगा।'

सन् 1928 की बात है। साबरमती आश्रम की जमीन से कुछ दूर एक बंगला था। वहाँ चर्मालय का प्रयोग शुरू किया गया और एक आश्रमवासी भाई कुछ मजदूरों के साथ वहाँ रहने गये। एक दिन सुबह खबर आयी कि लुटेरों की एक टोली ने वहाँ रहनेवाले लोगों को मार-पीटकर उनका सारा सामान लूट लिया है। गरीब मजदूरों के घर में धन-दौलत तो क्या होती? लेकिन इस घटना से वे घबरा गये और उस जगह रहने से इनकार करने लगे। बापू ने कहा : 'तो हम बिना मजदूरों के ही अपना काम चलावेंगे।' सभी मजदूरों को रुखसत दे दी गयी। शाम की प्रार्थना में बापू ने इतला दे दी कि कल से हम सबको गोशाला का काम करना है।

दूसरे दिन निश्चित समय पर दूसरों के साथ बा भी गोशाला में पहुँचीं। गोशाला में व्यवस्थापक सोच में पड़ गये कि बा को क्या काम दें? बा समझ गईं। उन्होंने सरलता से कहा : 'काम क्यों नहीं बताते? गायों के लिए 'गवार' नहीं दलनी है?'

व्यवस्थापक बोले : 'लेकिन बा आपको—'

बा : 'नहीं, नहीं, लाओ।'

और बा जाकर चक्की पर बैठ गयीं। फिर गाती-गाती 'गवार' दलने लगीं।

1931 में एक बार बा बेड़छी आश्रम गयी थीं। आश्रम के व्यवस्थापक ने सोचा था कि बा आकर खटिया पर बैठेंगी और सभा का वक्त होने पर सभा में आएँगी। इसलिए खटिया तैयार रखी थी। आते ही बा से कहा गया : 'बैठिए।' लेकिन बा क्यों बैठने लगीं। वे तो सीधी रसोईघर में गईं और रसोई बनाने में मदद करने लगीं। व्यवस्थापक की पत्नी दंग रह गयीं : 'इतनी बड़ी बा हमें रसोई में मदद करती हैं?' उन्होंने कहा : 'बा, आप रहने दें, मैं अभी बना लूँगी।' लेकिन बा क्यों छोड़ने लगीं? वे बोली : 'सौ हाथ, सुहावनी बात। अभी रसोई बना डालेंगी और फिर एक साथ सभा में चलेंगी।' और सचमुच उन्होंने ऐसा ही किया।

किसी दिन सुबह या शाम को रसोई के वक्त आम सभा का या ऐसा कोई दूसरा कार्यक्रम होता, तो बा रसोईघर में काम करनेवालों से कहतीं : 'तुम सब जाओ। तुम छोटे हो। तुम्हें देखने और घूमने की इच्छा रहती है। रसोई का काम मैं कर डालूँगी।'

1941 में बा मरोली गयी थीं। वहाँ से वे सेवाग्राम आनेवाली थीं। सब उनकी राह देख रहे थे। एक बहन तो बा से मिलने के लिए ही खास तौर पर ठहरी हुई थीं। सुबह की गाड़ी निकल गयीं। शाम को बम्बई से गाड़ी आनेवाली थी। उन बहन ने बापू से पूछा : बम्बई से गाड़ी आनेवाली थी। उन बहन ने बापू से पूछा : 'बा इस गाड़ी से तो आएँगी न?' बापू ने कहा : 'अगर बा अमीरों की—पैसेदारों की—होंगी तो इस गाड़ी से आएँगी और गरीबों की बा होंगी तो सूरत होकर 'ताप्ती वेली' से सुबह आएँगी।' और सचमुच बा दूसरे दिन सुबह 'ताप्ती वेली' से ही आयीं और अपने आप यह साबित हो गया कि बा खुद गरीबों की बा हैं।

सेवाग्राम में एक दिन एक लड़की बीमार पड़ी। बीमार बालिका की सेवा-चाकरी के लिए एक बहन थीं, जो उसका कमोड वगैरा साफ करती और उसे दवा देतीं। एक दिन परिचारिका बहन उस लड़की का कमोड साफ करना भूल गयीं। शाम हुई। शाम को बा ने कमोड देखा। बिना कुछ बोले-चाले वे खुद कमोड साफ कर लायीं। एक स्नेहमयी माता अपने छोटे से परिवार में खपे-खटे और खपने-खटने में ही अपने को सुखी माने, सो तो हमें कई घरों में देखने को मिलता है। लेकिन बा अपने इस बहुत बड़े परिवार में भी उतनी ही स्वाभाविकता से खपतीं-खटतीं और उसमें से आत्म-सुख अनुभव करती थीं। कर्मयोगी नाम के लिए उनसे ज्यादा लायक और कौन हो सकता है?

'हमारी बा' नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद से साभार

हिंसा के दौर में गांधी-दर्शन

प्रियंका मिश्रा

हिंसा से ग्रस्त सम्पूर्ण समाज आज हिंसा से मुक्ति का रास्ता तलाश रहा है। आज दुनिया-भर में आतंकवाद, अलगाववाद और युद्ध के चलते अनवरत खून-खराबा जारी है। 2001 में अमेरिकी वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर पर हमला एक अहम घटना थी, जिसके बाद पूरी दुनिया लगातार चलने वाले युद्ध से दो-चार है। पूरी दुनिया में धर्म के नाम पर चल रहे आतंकवाद के अलावा अलगाववादी, जातीय एवं नस्ली हिंसाएँ बढ़ रही हैं। यह विडम्बना ही है कि विश्व-भर में शान्ति और मानव-कल्याण के नाम पर तमाम युद्ध लड़े जा रहे हैं। इन सबका मकसद शान्ति बताया जाता है, लेकिन इन संघर्षों की परिणति अन्ततः जनसंहार के रूप में सामने आती है।

हिंसा के कभी खत्म न होने वाले दौर के बीच अक्सर यह सवाल उठता है कि वह कौन-सा रास्ता है जो मौजूदा विश्व को हिंसा से मुक्ति दिला सकता है? इस सवाल का जवाब अन्ततः महात्मा गांधी के दर्शन में मिलता है। गांधी-दर्शन तमाम दर्शनों-सिद्धान्तों का ऐसा मिश्रण है जिसमें हिंसा का निषेध किया गया है और मानव-मूल्यों के लिए निशःस्त्र संघर्ष की वकालत की गयी है। ''महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दौरान समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विषयों पर जिन विचारों एवं मन्तव्यों को व्यक्त किया, उनके अनुयायियों ने कालान्तर में उन्हें ही गांधीवाद कहा।''[1] चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने भी कहा था, ''गांधीवाद गांधीजी का कोई सर्वथा नवीन आविष्कार नहीं है। हमारे प्राचीन सनातन धर्म के सिद्धान्त ही गांधीवाद की बुनियाद हैं। गांधी ने हिन्दू धर्म के प्राचीन सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं किया, बल्कि उन्हें नये सिरे से, आधुनिक समाज की आवश्यकतानुसार, चुनकर एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया।''[2] गांधी-विचारधारा के कुछ मूलभत सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर वे राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सुझाने का प्रयास करते हैं। गांधी के समग्र दर्शन में हिंसा के लिए कोई जगह ही नहीं थी।

गांधीवाद गांधीजी का कोई सर्वथा नवीन आविष्कार नहीं है। हमारे प्राचीन सनातन धर्म के सिद्धान्त ही गांधीवाद की बुनियाद हैं। गांधी ने हिन्दू धर्म के प्राचीन सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं किया, बल्कि उन्हें नये सिरे से, आधुनिक समाज की आवश्यकतानुसार, चुनकर एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया।

गांधी जिस युग में तमाम तरह से, तमाम स्तर पर मानव-मुक्ति की लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, वह दौर उपनिवेशों और विश्वयुद्धों का था। दुनिया खून से लथपथ हो चुकी थी और मानवता की ऐसी शरणस्थली खोज रही थी जहाँ वह खुद को महफूज रख सके। आज का दौर भले विश्वयुद्धों का दौर नहीं है, बावजूद इसके आज के विश्व में हिंसा उससे कहीं कम नहीं है। ऐसे उथल-पुथल भरे हिंसक समय में महात्मा गांधी के विचारों का दुनिया-भर में फैलना और मजबूती पाना अनायास नहीं है। हाल ही में गांधी-जयन्ती को विश्व अहिंसा दिवस के रूप में

मनाये जाने की संयुक्त राष्ट्र की घोषणा से गांधी के अहिंसक दर्शन को और मजबूती मिली है। राजनीति से लेकर निजी जीवन तक के हर पड़ाव में गांधी ने हिंसा का कैसे मुकाबला किया और क्या-क्या रास्ते सुझाये, इस पर समग्रता से विचार करना जरूरी है।

महात्मा गांधी विश्व-इतिहास में अकेले ऐसे दार्शनिक हैं जो महज सिद्धान्त रचने वाले दार्शनिक नहीं हैं। गांधी की समग्र वैचारिकी के मूल में नैतिकता है। विभिन्न चिन्तकों का यह मत है कि समग्र विश्व इतिहास के चिन्तन में गांधी जैसा नैतिक व्यक्ति दूसरा नहीं है। वे राजनीति में नीति को उसके चरम तक ले जाने के लिए जीवन-भर संघर्ष करते रहे। ''उनकी नैतिकता ही उनकी धार्मिक प्रवृत्ति, सामाजिक प्रतिबद्धता तथा राजनीतिक संघर्षशीलता में परिलक्षित होती है। नैतिकता उनका स्वरूप लक्षण थी और राजनैतिकता उनका आपद्धर्म, जबकि अन्य राजनेताओं में प्रायः इसके विपरीत स्थिति होती है।''[3] यह नैतिकता ही गांधी को अहिंसा के सिद्धान्त के प्रति आजीवन प्रतिबद्ध रख सकी। आज के विश्व में प्रमुख टकराव धार्मिक और सांस्कृतिक हैं, जैसा कि सैमुअल हटिंगटन ने 'द क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन एंड द रिमेकिंग ऑफ वर्ल्ड ऑर्डर' में कहा था कि 'इक्कीसवीं सदी में संघर्ष का अन्त नहीं होगा बल्कि सभ्यताओं के संघर्ष की शुरुआत होगी।' बाद के वर्षों में सभ्यता और संस्कृति से जुड़े इस टकराव से दुनिया दो-चार हुई। इस लिहाज से देखें तो इन टकरावों से बचने और बहुलतावादी संस्कृति का आदर करने वाला गांधी-विचार अतिशय प्रासंगिक हो जाता है। गांधी ने बहुलतावादी विचारों की पुरजोर हिमायत की और इसे अपने आचरण में उतारा भी। यह देखना दिलचस्प है कि प्रायः लोगों के धार्मिक या राजनीतिक विचार अपने खास खाँचे से निकलते हैं और उसी के भीतर रह जाते हैं। वे उससे बाहर निकलने का साहस नहीं कर पाते, लेकिन गांधी ने धर्म और राजनीति की प्रचलित अवधारणाओं को ध्वस्त कर नये सिद्धान्त गढ़े।

गांधी की चिन्तन-प्रक्रिया पर यदि गौर करें तो हम पाएँगे कि रस्किन, टॉल्सटाय और थोरो के विचार उनके चिन्तन में अहम स्थान रखते हैं। इसके अलावा बाइबिल के न्यू टेस्टामेण्ट, उसमें भी 'सर्मन ऑन द माउण्ट' से भी वे खास तौर से प्रभावित थे। इन विद्वानों के विचारों और इन ग्रन्थों से उन्होंने मानव-कल्याण के सूत्र खोजे और यही उनकी विचारधारा के मूल में समाहित हुए। गांधी का अपना कोई मौलिक दर्शन नहीं है, लेकिन दुनिया में मौजूद दर्शनों को लेकर उनके प्रयोग नितान्त मौलिक हैं। मुख्य रूप से सत्य और अहिंसा गांधी-दर्शन के मूल में हैं। ईश्वर, सत्य, अहिंसा और प्रेम– इन चार नैतिक मूल्यों के बीच गांधी ने समन्वय स्थापित किया। इन विभिन्न मूल्यों में तादात्म्य ही गांधी-दर्शन की प्रमुख विशेषता है। वस्तुतः सत्य और अहिंसा गांधी-दर्शन के मूल हैं, लेकिन अपने हर प्रयोग पर वे इन सभी मूल्यों को एक साथ साधते दिखते हैं। ''जहाँ तक दर्शन का मूलभूत प्रश्न है, महात्मा गांधी ने वस्तुनिष्ठ आदर्शवाद की स्थिति अपनायी। उनके अनुसार, यह जगत यथार्थ है और मनुष्य की चेतना से स्वतन्त्र, वस्तुगत रूप से मौजूद है।''[4]

''महात्मा गांधी के लिए सत्य साध्य था तो अहिंसा उसको प्राप्त करने का साधन। उनके अनुसार सबसे बड़ी ताकत जो मानव को प्रदान की गयी है, वह है अहिंसा। सत्य उसका एकमात्र लक्ष्य है, क्योंकि ईश्वर सत्य से इतर और कुछ नहीं है, लेकिन सत्य की प्राप्ति अहिंसा से ही हो सकती है। वे मानते थे कि अहिंसा एक पूर्ण स्थिति है और सम्पूर्ण मानव-समुदाय धीरे-धीरे उस ओर बढ़ रहा है। अहिंसक होना कोई देवत्व को प्राप्त हो जाना नहीं है, बल्कि यह तो सिर्फ सच्चा मनुष्य बनना है।''

''गांधीवाद एक आध्यात्मवादी विचारधारा है। इसलिए इसमें अहिंसा, सत्य, धर्म एवं नैतिकता सदृश अवधारणाओं की प्रमुखता रही है। उन्होंने अपने समस्त चिन्तन तथा आचरण में धर्म तथा नैतिकता के सिद्धान्तों पर बल दिया। ये ही उनके दार्शनिक विचार के प्राणतत्त्व हैं।''[5] अपनी हिन्दू आस्तिकता के कारण गांधी की राजनीतिक विचारधारा भी धर्म का साथ नहीं छोड़ती। हालाँकि, ''गांधी की नैतिक शक्ति का रहस्य आस्था ही है।' 'ईश्वर' उनके लिए 'सत्य' का ही दूसरा नाम है। इस सन्दर्भ में वे सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन-परम्परा, भारतीय अध्यात्म तथा धर्म की आधुनिक और प्रासंगिक व्याख्या करने वाले अद्भुत उदाहरण हैं।''[6]

अपनी आस्थागत नैतिकता के चलते ही गांधी राजनीति में सम्पूर्ण शुचिता के हिमायती रहे। उन्होंने साधन और साध्य दोनों की पवित्रता पर जोर दिया, क्योंकि उनका मानना था कि अगर साध्य पवित्र हो और साधन अपवित्र हो तो ऐसे साध्य का मकसद अधूरा है। ''महात्मा गांधी के लिए सत्य साध्य था

तो अहिंसा उसको प्राप्त करने का साधन। उनके अनुसार सबसे बड़ी ताकत जो मानव को प्रदान की गयी है, वह है अहिंसा। सत्य उसका एकमात्र लक्ष्य है, क्योंकि ईश्वर सत्य से इतर और कुछ नहीं है, लेकिन सत्य की प्राप्ति अहिंसा से ही हो सकती है। वे मानते थे कि अहिंसा एक पूर्ण स्थिति है और सम्पूर्ण मानव-समुदाय धीरे-धीरे उस ओर बढ़ रहा है। अहिंसक होना कोई देवत्व को प्राप्त हो जाना नहीं है, बल्कि यह तो सिर्फ सच्चा मनुष्य बनना है।''[7]

''उनकी विचारधारा में अहिंसा की अवधारणा सार्वजनिक, सर्वव्यापक एवं सार्वकालिक है। उनकी दृष्टि में हिंसा पाशविक नियम है और अहिंसा मानव का स्वाभाविक नियम है। इसलिए गांधीजी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अहिंसा को लागू करके मानव-समाज को प्रगति के मार्ग पर ले जाना चाहते हैं। अहिंसा के विषय में उनका कथन है, 'मेरे लिए अहिंसा केवल एक दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं है। यह मेरे जीवन का ताना-बाना है। यह दिमाग की चीज न होकर हृदय की चीज है।''[8]

गांधी की विचारधारा में सबसे अहम बात है कि वे धर्म और राजनीति को अलग-अलग नहीं रखते, क्योंकि गांधी एक आस्थावान व्यक्ति होने के साथ-साथ राजनीतिक कार्यकर्ता और नेतृत्वकर्ता थे, जो देश की गुलामी, गरीबी, छुआछूत, अज्ञानता आदि समस्याओं के निपटने के लिए अलग-अलग मोर्चे पर एक साथ लड़ रहे थे।

गांधी की विचारधारा प्रेम यानी मानवमात्र से प्रेम पर अतिशय जोर देती है, इसलिए अहिंसा और सत्य के साथ उसका बेहतर तादात्म्य बनता है।''गांधीजी के अनुसार, लोभ-लालसा और आनन्द में डूबा जीवन नहीं, वरन सामाजिक और राजनीतिक क्रिया-कलापों से पूर्ण सोद्देश्य सांसारिक जीवन, त्याग का सबसे बड़ा स्वरूप है। उन्होंने 'यंग इण्डिया' में लिखा, 'मैं अपनी जनता की जो सेवा करता हूँ, वह उस अनुशासन का एक हिस्सा है जिसके जरिये मैं अपनी आत्मा को शारीरिक बन्धनों से मुक्त करने का प्रयास करता हूँ। मेरे लिए मोक्ष का रास्ता मानवता के प्रेम से होकर जाता है।... मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है।''[9]

गांधी की विचारधारा में सबसे अहम बात है कि वे धर्म और राजनीति को अलग-अलग नहीं रखते, क्योंकि गांधी एक आस्थावान व्यक्ति होने के साथ-साथ राजनीतिक कार्यकर्ता और नेतृत्वकर्ता थे, जो देश की गुलामी, गरीबी, छुआछूत, अज्ञानता आदि समस्याओं के निपटने के लिए अलग-अलग मोर्चे पर एक साथ लड़ रहे थे। उनके बारे में पं. जवाहरलाल नेहरू का कहना था, ''गांधीजी सदा राष्ट्रीय आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म कोई कट्टरपन्थी नहीं था, फिर भी उसमें जीवन के प्रति एक निश्चित धार्मिक दृष्टिकोण का निर्देश अवश्य था। इसका सारे आन्दोलन पर बड़ा गहरा असर पड़ा और जहाँ तक जनता का सवाल है, उसने एक सजीव आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।''[10] हालाँकि, नेहरू इसी लेख में इसे 'दुर्भाग्यपूर्ण' भी करार देते हैं, क्योंकि वे राजनीति में धर्म को शामिल करने के हामी नहीं थे। राजनीति में धर्म को शामिल करने का क्या नुकसान हुआ, यह दीगर बात है, लेकिन गांधी के राजनीतिक बराबरी और सर्वधर्म समभाव का भारतीय जनता पर बहुत गहरा असर हुआ, क्योंकि दोनों में अद्‌भुत समन्वय था। उनकी राजनीति और उनकी धार्मिक आस्था वस्तुत: एक-दूसरे से जुड़ी हुई थी। गांधी की निगाह में 'सत्य ही ईश्वर' था। समय के अनुकूल जो सत्य स्थापित होता, वे डटकर उसी सत्य के पक्ष में खड़े हो जाते थे। हालाँकि, यदि 'सत्य' के लिए लड़ना ईश्वरीय काम है, तो यह आस्था कतई बुरी नहीं हो सकती। उन्होंने कहा था, ''मेरे सत्य-प्रेम ने ही मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींचा है और मैं बिना किसी संकोच के, किन्तु पूर्ण नम्रता के साथ कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे धर्म का मतलब नहीं जानते।... यहाँ गांधीजी 'धर्म' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं उनका सम्बन्ध और बातों से अधिक नीति तथा सदाचार से है और वह धर्मालोचकों के अर्थ से भिन्न है।''[11] जाहिर है कि गांधी का धर्म राजनीतिक टकराव के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक शुचिता का साधन मात्र था। आज के समय में धर्म और राजनीति का जैसा खतरनाक गठबन्धन है, गांधी ने उसी के खिलाफ जीवन-भर संघर्ष किया।

गांधी-दर्शन, जो कि वस्तुत: धर्म की चाशनी में डूबा हुआ राजनीतिक जीवन-दर्शन है, के बारे में विनोबा भावे का कहना है, ''सामान्य धर्म-प्रचार और क्रान्ति दोनों अलग-अलग बातें हैं। सामान्य धर्म का बोध तो ऋषि और सन्त हमेशा देते रहते हैं, लेकिन जब युग की माँग और सन्त के उपदेश का संयोग होता, तब क्रान्ति होती है। सर्व सामान्य धर्म का प्रचार एक बात है और जमाने को किस बात की जरूरत है, यह परखकर उसके साथ धर्म-विचार जोड़ देना दूसरी

बात। अन्दर का धर्म-विचार का बल और बाह्य परिस्थिति का बल दोनों को जो जोड़ दिखाता है, वह केवल धर्म-पुरुष या सतपुरुष नहीं रह जाता, बल्कि युगपुरुष बन जाता है। गांधीजी ऐसे ही युगपुरुष थे।''[12]

गांधी ने अँग्रेजी साम्राज्य के खात्मे के लिए अहिंसा की नीति अपनायी। समय के साथ उसका जबरदस्त विरोध हुआ, यहाँ तक कि उनके सहयोगी भी उनकी अहिंसक नीति को पसन्द नहीं करते थे। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं, ''जो बात मुझे अच्छी नहीं लगती थी, वह थी हमारे आन्दोलन और सत्याग्रह की नैतिक दिशा। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त की पूरी अधीनता नहीं मानी और न उसे सदा के लिए स्वीकार ही किया, किन्तु मैं उसकी ओर दिन-पर-दिन अधिक आकर्षित होता गया; और मेरे मन में यह विश्वास जड़ जमाता गया कि अपनी परिस्थिति, पृष्ठभूमि और परम्पराओं के कारण हम भारतीयों के लिए यही नीति ठीक है। राजनीति के आध्यात्मीकरण का विचार मुझे सुन्दर प्रतीत हुआ। यहाँ अध्यात्मीकरण से मेरा अभिप्राय उसके संकीर्ण धार्मिक अर्थ से नहीं है। एक योग्य साध्य तक पहुँचने के साधन भी योग्य होने चाहिए।''[13]

आज गांधी की अहिंसक आन्दोलन-नीति को पूरी दुनिया में न सिर्फ आदर के साथ देखा जा रहा है, बल्कि बार-बार उसकी उपादेयता रेखांकित की जा रही है। बढ़ती हिंसा के दौर में अहिंसा और नैतिकता ही वह विचार है जो विश्व को खून-खराबे और परमाणु युद्ध से बचा सकता है।

आज जब पूरा विश्व आतंक और हिंसा से भर चुका है, आईएसआईएस जैसे संहारक संगठन वजूद में हैं, दुनिया-भर में तमाम छोटे-बड़े युद्ध एक साथ छिड़े हैं, आतंकवाद से पूरी धरती त्रस्त है, नयी सदी की तकनीकी सभ्यता सम्पूर्ण मनुष्यता के लिए चुनौती बन गयी हो, तब राजनीति और समाज को चलाने के लिए कौन-सा रास्ता प्रासंगिक हो सकता है, यह सबसे जरूरी सवाल है। यह तो तय है कि युद्ध किसी भी तरह की समस्या का रास्ता नहीं हो सकता, चाहे वे वैश्विक समस्याएँ हों या फिर राष्ट्रीय। शान्तिपूर्ण मार्ग ही शान्ति का मार्ग हो सकता है, क्योंकि युद्ध सिर्फ और सिर्फ तबाही दे सकते हैं, शान्ति नहीं। यह और बात है कि दुनिया के ज्यादातर युद्ध शान्ति के हवाले से लड़े जाते हैं। गांधीजी जिस आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को शैतानी सभ्यता कह रहे थे, वह अब पूरे विश्व को अपने चपेट में ले चुकी है, उस पर भी पूँजीवादी उदारवाद ने पूरी दुनिया में क्षेत्रीय अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया है। तीसरी दुनिया में बढ़ता उदारीकरण वैश्विक कम्पनियों का स्वर्ग है, जो लघु एवं कुटीर उद्योग को लील रहा है। कम्पनियों के राज में दुनिया अभूतपूर्व हिंसा झेल रही है तो यह अनायास नहीं है। स्थानीय अर्थतन्त्र और समाजतन्त्र को लील रही पूँजीवादी हिंसा का नयी विश्व-व्यवस्था से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

मौजूदा समय में भारत समेत विश्व की जो प्रमुख समस्याएँ हैं, वे हैं– धर्मान्धता और धर्म के नाम पर बढ़ते टकराव, धर्म, सम्प्रदाय और जाति के नाम हो रही राजनीति, धार्मिक आतंकवाद, अन्धविश्वास, वैज्ञानिक यान्त्रिकता क्षीण होती मानवीय गरिमा, आधुनिकता की कोख से उपजी विसंगतियाँ, पर्यावरण का क्षरण, अतिशय बौद्धिकता और संवेदनहीनता, मानवीय जीवन शिल्प की विसंगतियाँ, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और पश्चिमी वैज्ञानिक प्रभुत्व आदि। स्वतन्त्रता संघर्ष के समय से आज की तुलना करें तो भारतीय राजनीति में नैतिकता में गिरावट ने भारतीय मानस का जबरदस्त नुकसान किया है। जबकि गांधी राजनीति में चरम नैतिकता के समर्थक थे और उन्होंने यथासम्भव इसकी कोशिश की और राजनीति में उन्होंने चरम नैतिकता का प्रयोग करके दिखाया।

धार्मिक टकरावों के दौर में गांधी दर्शन की उपादेयता बढ़ जाती है जहाँ सर्वधर्म समभाव का मानव धर्म सर्वोपरि

हो जाता है। 11 अगस्त, 1920 के 'यंग इण्डिया' साप्ताहिक में वे लिखते हैं, ''मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओं से मर्यादित नहीं है। मेरा जीवन अहिंसा-धर्म के पालन द्वारा भारत की सेवा के लिए समर्पित है।''[14] गांधी का धर्म राजनीति से विलग नहीं है इसलिए उनके राजनीतिक विचारों में धार्मिक टकरावों के लिए जगह नहीं है। 17 सितम्बर, 1925 को उन्होंने 'यंग इण्डिया' में लिखा, ''मैं भारत को स्वतन्त्र और बलवान बना हुआ देखना चाहता हूँ क्योंकि मैं चाहता हूँ कि वह दुनिया के भले के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी पवित्र आहुति दे सके। भारत की स्वतन्त्रता से शान्ति और युद्ध के बारे में दुनिया की दृष्टि में जड़मूल की क्रान्ति हो जाएगी।''[15] यही बात उन्होंने 7 अक्तूबर 1924 को हिन्दी 'नवजीवन' में इस तरह से कही थी, ''भारत का भविष्य पश्चिम के उस रक्त-रंजित मार्ग पर नहीं है, जिस पर चलते-चलते पश्चिम अब खुद थक गया है। भारत का भविष्य तो सरल, धार्मिक जीवन द्वारा प्राप्त शान्ति के अहिंसक रास्ते पर चलने में ही है।''[16]

11 अगस्त, 1929 को वे 'यंग इण्डिया' में लिखते हैं, ''मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि यदि भारत ने दु:ख और तपस्या की आग में से गुजरने जितना धीरज दिखाया और अपनी सभ्यता पर, जो अपूर्ण होते हुए भी अभी तक काल के प्रभाव को झेल सकी है, किसी भी दिशा से कोई आक्रमण न होने दिया, तो वह सभ्यता दुनिया की शान्ति और ठोस प्रगति में स्थायी योगदान कर सकती है।''[17]

वर्तमान सभ्यता जब अपने शैशव काल में थी और विश्वयुद्ध नहीं हुए थे, उस समय महात्मा गांधी 'हिन्द स्वराज' लिखकर 'बिगाड़ करने वाली' पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए भारतीय ग्राम को बचाने और विकसित करने का दर्शन पेश कर रहे थे। वे लिखते हैं, ''यह सभ्यता ऐसी है कि अगर हम धीरज धरकर बैठे रहेंगे तो सभ्यता की चपेट में आये हुए लोग खुद की जलायी हुई आग में जल मरेंगे।... यह शैतानी सभ्यता है।...यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली और खुद नाशवान है।''[18]

''गांधी-चिन्तन का सार है लोकोत्तर सत्ता में विश्वास, सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा और संवेदनशीलता-ये मनुष्य के शुभ तत्त्व हैं, जो चिन्तन, व्यवस्था और संस्था इसे नष्ट करती है, वह कल्याणकर नहीं है। यथासम्भव उसका परित्याग होना चाहिए।''[19] गांधी-दर्शन के इन्हीं तत्त्वों में से दुनिया को अहिंसक, शान्तिपूर्ण और सुन्दर बनाने के वे विचार निकलते हैं जो राजनीति और समाज से सारी बुराइयों को खत्म करने की हिमायत करते हैं। राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक जीवन के इतने उच्च आदर्श वाले मूल्य व्यवहार में तो निहायत मुश्किल हैं लेकिन ''दुष्कर समस्याओं का समाधान भी जटिल होता है। गांधी की राह दुष्कर तो है किन्तु इक्कीसवीं सदी के परिप्रेक्ष्य में आसान राह ढूँढ़ना सम्भव नहीं है।''[20]

सन्दर्भ-संकेत

1. सामाजिक-राजनीतिक दर्शन की रूपरेखा, राममूर्ति पाठक, अभिमन्यु प्रकाशन, पृ. 396।
2. गांधी-दर्शन, सम्पादक: यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 24।
3. समाज एवं राजनीतिक दर्शन-डॉ कृष्णाकान्त पाठक, पृ. 440।
4. भारतीय चिन्तन परम्परा, के दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पृ. 461।
5. सामाजिक-राजनीतिक दर्शन की रूपरेखा, राममूर्ति पाठक, अभिमन्यु प्रकाशन, पृ. 400।
6. महात्मा गांधी : सहस्राब्द का महानायक, सम्पादक : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 245।
7. गांधी की नैतिकता, सुजाता, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, पृ. 10।
8. सामाजिक-राजनीतिक दर्शन की रूपरेखा, राममूर्ति पाठक, अभिमन्यु प्रकाशन, पृ. 400।
9. भारतीय चिन्तन परम्परा, के दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पृ. 463।
10. राष्ट्रपिता, जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 45।
11. वही, पृ. 106।
12. गांधी-दर्शन, सम्पादक: यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 12।
13. राष्ट्रपिता, जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 47।
14. गांधी-दर्शन, सम्पादक: यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 39।
15. वही, पृ. 39।
16. वही, पृ. 39।
17. वही, पृ. 39।
18. हिन्द स्वराज, सम्पादक: मो. क. गांधी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, पृ. 20।
19. महात्मा गांधी : सहस्राब्द का महानायक, सम्पादक- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 245।
20. वही, पृ. 212।

सम्पर्क– दर्शनशास्त्र विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, नयी दिल्ली

मो. 09873947294

सम्पूर्ण टीकाकरण हमारा अधिकार

अलका आर्य

'सम्पूर्ण टीकाकरण हमारा अधिकार' यह महत्वपूर्ण संदेश स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा जारी एक पोस्टर में चार मुस्कराते बच्चों के जरिए अवाम तक पहुँचाया गया है। इसकी अहमियत इसलिए है क्योंकि 'सार्वभौमिक टीकाकरण कार्यक्रम (यूआईपी)' के 30 साल के बाद भी हमारे देश में हर साल जन्म लेने वाले सभी बच्चों में से 65.2 प्रतिशत ही अपनी जिन्दगी के आरम्भिक वर्षों में पूर्ण टीकाकरण कराते हैं। हालात यह है कि सालाना 5 लाख बच्चे उन बीमारियों से ग्रस्त होकर मर जाते हैं, जिनका इलाज टीकाकरण से सम्भव है। इस सूरत ए हाल को बदलने यानी बच्चों की नींव को स्वस्थ बनाने के मकसद से केन्द्र सरकार ने 'मिशन इन्द्रधनुष' नामक कार्यक्रम शुरू किया है। गौरतलब है कि मिशन इन्द्रधनुष का लक्ष्य वर्ष 2020 तक कम से कम 90 प्रतिशत बच्चों को टीकाकरण की जद में लाना है। देश के केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री जे.पी. नडडा ने कहा कि हरेक बच्चे तक पहुँचने की हमारी मंशा स्पष्ट है। हर बच्चे का सम्पूर्ण टीकाकरण सुनिश्चित करने वाली मंशा तो नेक है पर लक्ष्य को हासिल करना एक बहुत बड़ी चुनौती है। भारत में हर साल 2.7 करोड़ बच्चे जन्म लेते हैं और इनमें से 18.3 लाख बच्चे अपने पाँचवा जन्म दिन भी नहीं मना पाते। भारत का यूआईपी कार्यक्रम दुनिया के सबसे बड़े कार्यक्रमों में से एक है व यह सात जानलेवा बीमारियों-डिप्थेरिया, काली खाँसी, टेटनस, टीबी, खसरा और हेपेटाइटिस बी के खिलाफ टीकाकरण उपलब्ध कराता है। इस कार्यक्रम की विस्तारित पहुँच के बावजूद देशभर में 89 लाख बच्चों को या तो कुछ ही टीके मिलते हैं या कोई भी टीका नहीं मिलता हैं। शहरी इलाकों में 5 प्रतिशत तो ग्रामीण इलाकों में 8 प्रतिशत बच्चे टीकारहित रह जाते हैं। मिशन इन्द्रधनुष के तहत विशेष टीकाकरण अभियान में बचपन की बीमारियों, विकलांगता और मौत के जोखिम वाले टीकारहित और आशिंक रूप से टीकाकृत बच्चों को लक्षित किया जाएगा। सरकार ने खुद स्वीकारा है कि बीते चार सालों से सम्पूर्ण टीकाकरण कवरेज में औसतन महज एक प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है। बहरहाल सरकार अपने लक्ष्य को पाने के लिए इस योजना को चरणबद्ध तरीकों से लागू कर रही है। पहला चरण 7 अप्रैल से शुरू हुआ है। तीन महीने तक चलेगा। पहले चरण में देश के उन 201 जिलों को शामिल किया गया, जहाँ देश के 50 प्रतिशत ऐसे बच्चे बसते हैं, जिनका आंशिक टीकाकरण हुआ है या एक भी टीका नहीं लगा है। इन 201 जिलों में उत्तर प्रदेश के सबसे ज्यादा जिले शमिल हैं, संख्या 44 हैं। मध्यप्रदेश के 15, बिहार के 14 और राजस्थान के 9 जिले भी आते हैं। हैरत होती है, यह जानकर कि हिन्दी पट्टी के इन चार सूबों में भारत के टीकारहित या आंशिक रूप से टीकाकृत बच्चों में से एक चौथाई बच्चे रहते हैं। बिहार में सम्पूर्ण टीकाकरण 69.9 प्रतिशत है। आंशिक टीकाकरण

एक ताजा रिपोर्ट के अनुसार देश में 6 लाख डाक्टरों की कमी है। शिशु मृत्यु दर प्रति 1000 जीवित बच्चों में 40 है और 5 वर्ष से कम बच्चों की मृत्यु दर 52 है। 'सम्पूर्ण टीकाकरण हमारा अधिकार' यानी केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों को मिशन इन्द्रधनुष को सफल बनाने के लिए अथक प्रयास करने होंगे।

26.40 प्रतिशत है। अररिया, बेगूसराय, पूर्वी चम्पारण, पश्चिमी चम्पारण, दरभंगा, गया, जमुई, कटिहार, किशनगंज, मुजफ्फरपुर, पटना, सहरसा, समस्तीपुर और सीतामढ़ी शमिल हैं। किशनगंज में टीकाकरण कवरेज 32 प्रतिशत है, जो सबसे कम है। पटना में यूनिसेफ द्वारा आयोजित एक मीडिया कार्यशाला में किशनगंज से हिस्सा लेने आए एक प्रतिनिधि ने बताया कि किशनगंज तीन तरफा पानी से घिरा हुआ है, वहाँ के लोगों तक पहुँचना भी एक बहुत बड़ी समस्या है। किशनगंज के बाद पूर्वी चम्पारण जिला आता है, जहाँ टीकाकरण कवरेज 44 प्रतिशत है। किशनगंज हो या चम्पारण या उत्तर प्रदेश का बदायूँ जिला, जहाँ हालात बदतर हैं, सवाल उठता है कि बच्चे टीकाकरण से छूट कैसे गए। इन सवालों का उत्तर जानने के लिए कराया गया एक सर्वे बताता है कि 23.3 प्रतिशत लोगों ने टीकाकरण की जरूरत ही नहीं महसूस की। 23.6 प्रतिशत लोगों को इस बाबत जानकारी ही नहीं थी। 23.7 फीसदी लोगों को यह ही नहीं पता था कि टीकाकरण के लिए कहाँ जाना चाहिए। 14.7 प्रतिशत लोगों ने अपने बच्चों को इसलिए टीके नहीं लगवाये क्योंकि उनके मन में टीकों के साइड इफेक्ट को लेकर कई प्रकार के भय थे। सम्पूर्ण टीकाकरण का लक्ष्य पाने के लिए सरकार के समुख एक चुनौती गरीब व हाशिए पर रहने वाले लोगों को टीकाकरण बावत समझाना है क्योंकि आंशिक टीकाकरण व सम्पूर्ण टीकारहित बच्चों में इन तबकों के बच्चे ज्यादा होते हैं। दूर दराज गरीब बस्तियों व निर्माण स्थलों तक पहुँच को सुनिश्चित करना होगा। बिहार की कम्युनिटी मोबालइजर कोर्डिनेटर रूबीना ने बताया कि लोगों की समझ में सुधार हुआ है। अनुभव कहता है कि आने वाले वक्त में और सुधार होगा। लोगों में जागरूकता बढ़ेगा। यूनिसेफ के पोलियो प्रोग्राम मैनेजर डॉ. नसीर अहमद का मानना है कि भारत को सम्पूर्ण टीकाकरण में सफलता पाने के लिए पोलियो उन्मूलन जैसी प्रतिबद्धता दिखानी होगी। आर्थिक संसाधन, ठोस योजनाएँ सफलता दिला सकती हैं।' आशावादी नजरिये के साथ-साथ वास्तविकता पर भी पैनी नजर रखनी चाहिए। समेकित बाल विकास सेवा योजना के तहत बाल व माहिलाओं की देखभाल करने वाली आंगनबाड़ी कार्यकर्ता और सहायिकाओं के सवा दो लाख पद देशभर में खाली पड़े हैं। यह योजना दुनिया का सबसे बड़ा सामाजिक कार्यक्रम है, पर विडम्बना देखिए कि सरकार ने इसका 2015-16 के बजट में बीते साल की तुलना में कटौती कर दी है। संसद के बजट सत्र के पहले हिस्से में सांसदों ने आंगनबाड़ी कार्यकर्ता और सहायिकाओं को नियमित करने की मांग उठाई थी पर महिला एवं बाल विकास मन्त्रालय ने ऐसी किसी सम्भावना से इंकार कर दिया है। भारत में स्वास्थ्य पर सकल घरेलू उत्पाद का बहुत ही कम खर्च किया जाता है। ग्रामीण इलाकों में 75 प्रतिशत शिशु विशेषज्ञों व 60 प्रतिशत महिला रोग विशेषज्ञों की कमी बनी हुई है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक ताजा रिपोर्ट के अनुसार देश में 6 लाख डाक्टरों की कमी है। शिशु मृत्यु दर प्रति 1000 जीवित बच्चों में 40 है और 5 वर्ष से कम बच्चों की मृत्यु दर 52 है। 'सम्पूर्ण टीकाकरण हमारा अधिकार' यानी केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों को मिशन इन्द्रधनुष को सफल बनाने के लिए अथक प्रयास करने होंगे। सम्पूर्ण बाल टीकाकरण के लक्ष्य को हासिल करने के लिए भारत सरकार पर अंतरराष्ट्रीय दबाव भी है। सरकार बच्चों के स्वास्थ्य के मुददे पर किसी भी तरह की ढील योजनाओं के स्तर पर नहीं बरतना चाहती। अपने देश के नौनिहालों को बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ व स्कूलिंग पर निगरानी रखने के लिए नीति आयोग की देख-रेख में ट्रैकिंग सिस्टम पर काम हो रहा है। यह योजना गुजरात मॉडल पर विकसित की जा रही है। इस योजना के तहत बच्चों को सभी टीके लगे या नहीं, बच्चे का स्कूल में दाखिला हुआ या नहीं आदि आवश्यक सूचनाएँ बच्चों के अभिभावकों के साथ साझा की जाएँगी। मिशन इन्द्रधनुष से सरकार ने गरीब, समाज के वंचित तबकों के बच्चों तक पहुँचने की बात कही है, क्या जमीनी स्तर पर उनकी सेहत बेहतर होगी?

दो माह की एक बच्ची अपनी दादी की गोद में सो रही है। दादी अपनी इस मासूम पोती की सेहत के लिए फिक्रमन्द है, लिहाजा वह उसे लेकर सरकार की ओर से आयोजित एक टीकाकरण शिविर में आती है। यहाँ कुछ महिलाएँ व बच्चे भी अपनी-अपनी बारी का इन्तजार कर रहे हैं। यह दृश्य एक टीकाकरण कैम्प का है। उत्तर प्रदेश के बरेली की जगतपुर बस्ती में 'मिशन इन्द्रधनुष' सरकारी कार्यक्रम के तहत यह कैम्प लगाया गया था। ध्यान देने वाली बात यह है कि मुल्क के सबसे बड़े सूबे उत्तर प्रदेश के इसमें 44 जिले (आगरा, अलीगढ़, इलाहाबाद, अमरोहा, असूया, आजमगढ़, बदायूं, भदोही, बहरीच बलरामपुर, बांदा, बाराबंकी, बरेली, बुलन्दशहर, चित्रकूट, इटा, इटावा, फर्रूखाबाद, फिरोजाबाद, गाजियाबाद, गोड़ा, हापुड़, हरदोई, हाथरस, कन्नौज, कौशम्बी, खेड़ी, मैनपुरी, मथुरा, मेरठ, मिर्जापुर, मुरादाबाद, मुजफ्फरनगर) शमिल हैं। उत्तर प्रदेश में पूर्ण टीकाकरण दर 62 प्रतिशत है जबकि राष्ट्रीय दर 65.2 प्रतिशत है। बरेली जिले में यह आंकडा 56 प्रतिशत तो बदायूं में 45 प्रतिशत है। इन दोनों जिलों के जिला प्रतिरक्षण

अधिकारी अपने-अपने इलाकों में नियमित टीकाकरण में पिछड़ने की वजह प्रवासी आबादी व लोगों में जागरूकता का अभाव मानते हैं। वैसे कहीं-कहीं आँगनबाड़ी वर्करों की कमी के चलते भी टीकाकरण का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाता। प्रवासी आबादी ईंट भटटों, दूसरे राज्यों में काम करने वालों की हैं। बदायूं के मुख्य चिकित्सा अधिकारी दीपक कुमार सक्सेना ने बताया कि बदायूं में कोई भी उद्योग न होने के कारण प्रवासी आबादी ज्यादा है। इसलिए उन्हें टीकाकरण के सन्दर्भ में और भी सचेत रहना पड़ता है। बरसात के मौसम में ईंट भट्टों पर काम लगभग बन्द हो जाता है और लोग अपने मूल गाँवों, बस्तियों को लौट बाते हैं, ऐसे में उन्हें लक्षित किया जाता है। लोगों के बीच टीकाकरण महत्त्व के प्रति समझ विकसित करना एक अहम चुनौती है। बरेली के जगतपुर इलाके में 80 प्रतिशत आबादी मुस्लिम है। ब्लॉक मोबलाइजर कोर्डिनेटर अंजिल भारद्वाज ने बताया कि रसूखदार लोग यहाँ मददगार साबित होते हैं। मस्जिदों से ऐलान कराया जाता है। हज की यात्रा से लौटे महिला व पुरुषों की मदद ली जाती है। वे लोग जब बच्चों के टीकाकरण की अहमियत बताते हैं तो लोग उन्हें खास तवज्जो देते हैं और उस पर अमल भी करते हैं। इसी प्रकार मन्दिरों की भी मदद ली जाती है। बदायूं के एक प्राइमरी स्कूल में आयोजित मिशन इन्द्रधनुष के तहत आयोजित टीकाकरण सेशन में 23 वर्षीय एम.ए. पास हिना खानम से बातचीत करने का मौका मिला। यूनिसेफ की तरफ से कम्युनिटी मोबालइजर कोर्डिनेटर हिना खानम ने बताया कि वह लोगों को घर-घर जाकर और समूह में भी समझाती हैं कि बच्चों को नियमित टीकाकरण कराएँ। इससे कई बीमारियों से बचा जा सकता है और जिन्दगी को स्वस्थ बनाया जा सकता है। स्वस्थ बच्चे शिक्षा में भी आगे बढ़ सकते हैं। जिन्दगी के हर क्षेत्र में तरक्की कर सकते हैं। बदायूं के जिला चिकित्सा अधिकारी दीपक कुमार सक्सेना ने तीन ऐसे गाँवों का जिक्र किया जहाँ स्थानीय मुददों के कारण गाँववासियों ने नियमित टीकाकरण का बहिष्कार कर दिया था। एक गाँव में पानी की समस्या को लेकर लोगों में नाराजगी थी तो दूसरे गाँव में रेलवे फाटक को मुद्दा बनाया गया था। गाँवों में कई मर्तबा स्थानीय राजनेता भी अपने हितों को आगे रखने की राजनीति करते हैं, वे भूल जाते हैं कि टीकाकरण बच्चों की जिन्दगी में कितना अहम है। ऐसे नाजुक हालात में लोगों को समझाने के लिए स्थानीय प्रशासन व यूनिसेफ समेत अन्य महत्त्वपूर्ण डेवलपमेंट एजेंसिया महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। फरहद जहाँ की उम्र 40 साल है, उसके पास 9 साल का तर्जुबा है। दोपहर के वक्त ये मदरसे मीटिंग में मशगूल थीं। ऐसी मीटिंग में अक्सर पहले दीनी तालीम पर चर्चा होती है और फिर माँ व बच्चे के स्वास्थ्य पर। बानो बेगम का मानना है कि ऐसे कार्यक्रमों से सेहत से जुड़ी अहम सूचनाएँ उन तक पहुँचती है। गजला की उम्र 20 साल है। बी.ए. पास इस युवती से मुलाकात इसी मदरसे मीटिंग में होती है। यहाँ आने का उसका मकसद क्या है, इस सवाल का साफ उत्तर तो नहीं मिलता। हाँ वह इतना तो समझ गई है कि स्वास्थ्य वाले मुद्दे को नजरअन्दाज करने की कई मर्तबा बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। मिशन इन्द्रधुनष को सफल बनाने में आँगनबाड़ी कार्यकर्ता, आशा, ए.एन.एम. की भूमिका अहम है। बिहार के गया जिले के एक गाँव के महादलित टोले में आयोजित टीकाकरण कैम्प में एक ए.एन.एम. ने बताया कि गरीब, अनपढ़ लोगों को समझाना बहुत ही कठिन है। कई बार समझाते हैं। घर-घर जाते हैं। कैम्प से पहले माइक से घोषणा भी करवाई जाती है ताकि कोई दूर खेतों में काम कर रहा है तो उस तक भी अहम जानकारी पहुँच सके। उस शिक्षित ए.एन.एम. का कहना है कि पिछड़े गाँवों की जटिल समस्याएँ हैं। अनपढ़ता के चलते अभिभवाक अपने बच्चों के लिए टीकाकरण के महत्त्व को नजरअन्दाज कर अपनी पुरानी दकियानूसी सोच से बाहर निकलने को तैयार नहीं दिखते। एक बच्चे के पिता को आँगनबाड़ी केन्द्र में बताया गया कि उसका बच्चा कुपोषित है। उसे नजदीक के सरकारी अस्पताल जाने की सलाह दी गई। पिता ने कहा कि वह वहाँ नहीं जाएगा बल्कि एक तेल से मालिश करेगा। दरअसल सरकार के सामने एक बहुत बड़ा लक्ष्य है। इसे हासिल करने के लिए कई मोर्चों पर काम करना होगा। बरेली के जगतपुर में जहाँ टीकाकरण का सेशन चल रहा था, वह एक किराए की दुकान थी। उस जगह कई कारीगर कपड़ों में सितारे-कढ़ाई करने में मशगूल थे। आगे वाले हिस्से में टीकाकरण के लिए महिलाएँ, बच्चे जमा हुए थे। एक छोटी-सी मेज लगी हुई थी। वह जगह काफी तंग थी, क्या सरकार इससे बेहतर जगह का बन्दोबस्त नहीं कर सकती थी? सरकार की मंशा नेक हो सकती है पर उस मंशा को पूरा करने के लिए बन्दोबस्त की निगरानी भी जरूरी है। और जनता का भरोसा भी।

सम्पर्क—ए एम -302,अभिमन्यु अपार्टमेंट
वसुंधरा एन्क्लेव, दिल्ली-96
मो. 9990935356

स्मृतियाँ उन दिनों की

भीष्म साहनी

एम.ए. की परीक्षा देने के बाद मैं रावलपिण्डी लौट आया। शहर अब बहुत छोटा लग रहा था और बोसीदा, न कोई चहल-पहल, न आमद-रफ्त, सड़कें तंग, सूनी-सूनी। पहले की ही तरह कहीं-कहीं पर दो-चार आदमी सड़क के किनारे खड़े बतियाते, तोंद खुजलाते नजर आते। अतरसिंह हलवाई की दुकान के सामने सड़क के किनारे अभी भी चौकड़ी बैठी चौसर खेल रही थी। लगा उसी दिन से खेल रही है जिस दिन मैं यहाँ से गया था। कुछ भी नहीं बदला था। फिर से बुर्केवाली औरतें गलियाँ लाँघती हुईं और भिश्ती कमर पर पानी की मश्क लादे सड़कों पर पानी छिड़कता हुआ। वही सब जो पहले इतना अपना-अपना लगा करता था, अब अपना सारा जादू खो बैठा था।

स्टेशन से घर को जाते हुए गाड़ीवान मेरे मोहल्ले का मुर्तज़ा निकला। अब गाड़ीवानों की खाकी पगड़ी पहने हुए था, चेहरे पर पतली-पतली मूँछें निकल आयी थीं। उसके बात करने का लहजा दोस्ताना भी था और साथ ही औपचारिक भी। सारा रास्ता मोहल्ले की खबरें सुनाता रहा। बोस्तान खान फौज में भरती हो गया है। गिरधारी घर छोड़ गया है। खुदा खबर कहाँ गया है। जहाँ पर गाड़ीवालों की कोठरियाँ थीं अब वहाँ सरदार आलमखान का तीन मंजिला मकान बन गया है।

घर पर पहुँचा तो देखा पिताजी के सिर के अधिकांश बाल सफेद हो चुके हैं पर चेहरा अभी भी गोरा-गोरा दमकता है। माँ ने सारे दाँत निकलवा दिये हैं। उनका पिचका हुआ चेहरा देखकर दिल धक् से रह गया था। घर भी सूना-सूना लगा, मानो मेरे पीछे कुछ ही सालों में घर बूढ़ा गया है।

समय की गति धीमी, दिन-प्रतिदिनवाली बनी रहे तो आसपास होनेवाली तब्दीलियाँ नजर नहीं आतीं। समय की आहटें सुनाई नहीं देतीं पर यदि बरसों का अन्तराल पड़ जाए तो बदलाव नजर आने लगते हैं और मन को बार-बार धक्का-सा लगता है।

बलराज घर पर नहीं थे। पिताजी ने बताया कि व्यापार के काम-काज के लिए उन्होंने बाजार में एक दफ्तर किराये पर ले रखा है। ''बलराज वहीं पर बैठता है। अभी आने ही वाला होगा।''

बलराज की पत्नी, दम्मो भी घर पर नहीं थी।

''वह भी आती होगी,'' माँ ने बताया, ''वह अपने मायके गयी है। कभी-कभी दिन को चली जाती है।''

कुछ ही देर बाद बलराज, साइकिल पर सवार, सड़क का मोड़ काटकर, घर की ओर आते नजर आये। मैं लपककर बाहर आ गया। मेरे अन्दर स्फूर्ति की लहर दौड़ गयी।

बलराज में अभी भी उत्साह छलक रहा था। बैठते ही, एक साँस में बीसियों बातें बता गया :

''बाजार में दफ्तर किराये पर लिया है। देखेगा तो खुश हो जाएगा। नमूने रखने के लिए दो अलमारियाँ बनवायी हैं। छत तक ऊँची, उनमें दराज़-ही दराज़। एक मेज बनवाया है, बैज़वी शक्ल की (अर्द्ध-गोलाकार)। कल तुम्हें वहाँ ले चलूँगा।...कल तुम्हें वहाँ हलवा भी खिलाऊँगा। एक खोमचेवाला हर रोज तीन बजे के आस-पास वहाँ आता है। ऐसा बढ़िया हलवा कि तुम्हें क्या बताऊँ... अब तू आ गया है, साइकिलों पर लम्बी सैरें किया करेंगे।... मैंने शहर के बाहर, तपोवन के आगे, एक छोटा-सा ताल ढूँढ़ निकाला है। मैं और बख्शी वहाँ रोज नहाने जाते हैं। मैं तुम्हें भी वहाँ ले चलूँगा। मैंने बख्शी की सगाई तुड़वा दी है। वह वहाँ ब्याह नहीं करना चाहता था। मैंने एक गुमनाम चिट्ठी, लड़की के चच्चा को लिख भेजी कि लड़का नपुंसक है, उसके साथ ब्याह करके अपनी लड़की की जिन्दगी बर्बाद नहीं कीजिए। पर यार, खत पकड़ा गया...''

''कैसे पकड़ा गया?''

''मैंने अपना खत अपने दफ्तर के चपरासी के हाथ भेजा था। उसे वहाँ किसी ने पहचान लिया। लड़की का चच्चा सीधा पिताजी से शिकायत करने पहुँच गया। वह बहुत बिगड़ा, बहुत बौखलाया... पर बख्शी भी सगाई टूट गयी है,'' बलराज

ने हँसकर कहा।

बलराज के उत्साह को देखकर, मेरे लिए घर की सारी रौनक फिर से लौट आयी। इतने में दम्मो आ गई थी, दम्मो, बलराज की पत्नी। चाँद-सा मुखड़ा और बच्चों जैसा हँसमुख स्वभाव। मुझे देखते ही भागकर आयी और लिपटकर मिली।

मुझे लगा जैसे समय ने करवट ली है। घर का सारा माहौल पहले से भी ज्यादा मनमोहक हो उठा है।

दिन बीतने लगे। बलराज ने दफ्तर में ही नहीं, घर में भी तरह-तरह की तब्दीलियाँ कर रखी थीं। अब रसोईघर के बाहर खाने की मेज लग गयी थी। अब परिवार के लोग रसोईघर के अन्दर बैठकर भोजन नहीं करते थे। पिर्च-प्याले आ गये हैं। सुबह-शाम चाय बनने लगी है।

मैं इस नये माहौल का अभ्यस्त होने लगा। कभी हम दोनों साइकिलों पर निकल जाते, कभी उस ताल की ओर चल देते जिसे बलराज ने खोज निकाला था।

पर कुछ ही दिन मुझे भास होने लगा जैसे परिवार के जीवन में कहीं खिंचाव-सा पाया जाने लगा है। अब पिताजी, ज्यादा चुप-से रहने लगे थे। कभी पिताजी, और माँ आपस में बातें कर रहे होते तो मेरे सामने आ जाने पर सहसा चुप हो जाते। मैं सोचता शायद माँ को दमयन्ती से कोई शिकायत है। घरों में सास-बहू की नहीं बनती, शायद यहाँ भी कोई मन-मुटाव पनप रहा हो। पर दम्मो का स्वभाव न केवल हँसमुख बल्कि पानी के झरने की तरह स्वच्छ और निर्मल था। माँ कभी-कभी बैठी बिसूर रही होतीं तो दम्मो उनसे जाकर लिपट जाती। दम्मो के कारण तो कोई मनमुटाव नहीं हो सकता था। तो क्या किसी और कारण घर में असन्तोष पाया जाने लगा है?

पर एक दिन, बैठे-बैठे ही बलराज कहने लगा :

''यार, अब तू आ गया है, तेरा मन चाहता है तो तू इस व्यापार को सम्भाल। मैं जा रहा हूँ।''

मैं चौंका।

''तू कहाँ जा रहा है?''

''मेरा मन व्यापार में नहीं है। मैं व्यापार करना नहीं चाहता।''

पिताजी ने कह रखा था कि तुम्हारी पढ़ाई के बाद तुम दोनों को मैं अपने व्यापार में लगाऊँगा। इसीलिए बरसों पहले से, हम दोनों के जेहन में यह बैठ चुका था कि कॉलेज की पढ़ाई कर चुकने पर, एक-एक करके हम दोनों पिताजी के व्यापार में हाथ बँटाएँगे। पिताजी ने हमारे भविष्य के बारे में ऐसा ही सोच रखा था। बल्कि योजनाएँ बनाते रहते थे कि एक भाई लन्दन में बैठेगा और दूसरा कराची में। एक, दिसावर से माल भिजवाएगा और दूसरा बड़ी मण्डी में बेचेगा। इसी कारण कॉलेज के दिनों में न तो मेरे मन में, और न ही बलराज के मन में, किसी अन्य व्यवसाय की ओर ध्यान गया था जबकि हमारे आसपास लड़के तरह-तरह की नौकरियों तथा प्रतियोगिताओं के लिए तैयारी कर रहे थे।

''तू क्या करना चाहता है?'' मैंने पूछा।

''मैं खुद नहीं जानता क्या करूँगा। पर कुछ तो करूँगा। मैं व्यापार नहीं करूँगा।'' फिर थोड़ी देर बाद बोला :

''मैं तुम्हारा ही इन्तजार कर रहा था। तुम्हारा मन चाहे तो व्यापार सम्भालो। पर मैं अब व्यापार नहीं करूँगा।''

बलराज ने अपने मन की बात इतने दो टूक ढंग से कही थी कि मुझे धक्का-सा लगा।

''पिताजी क्या कहते हैं?''

''पिताजी नहीं मानते। वह मुझसे नाराज हैं।''

मेरी आँखों के सामने पिताजी के सिर के सफेद बाल घूम गए। बलराज के इरादों से पिताजी के दिल को जरूर गहरी ठेस लगी होगी। मेरा मन बड़ा क्षुब्ध हुआ, मुझे बलराज के व्यवहार में हृदयहीनता का भास हुआ।

''तुम्हारे चले जाने से पिताजी को बड़ा क्लेश पहुँचेगा। और तुम यह भी नहीं बताते कि तुम करोगे क्या।''

''मैं खुद नहीं जानता मैं क्या करूँगा। पर मैं यहाँ नहीं रहूँगा।''

कुछ देर के लिए मुझे लगा जैसे बलराज मुझसे कुछ छिपा रहे हैं। मुझे ऐसा भी लगा कि बलराज और दम्मो ने अन्दर-ही-अन्दर कहीं चले जाने का फैसला कर लिया है
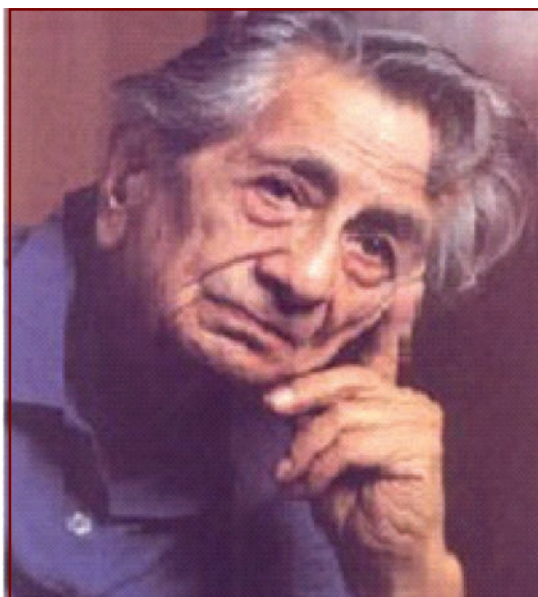
जिसे बलराज बताना नहीं चाहते। पर बलराज का ऐसा स्वभाव नहीं था, वह अपने मन की बात बेधड़क होकर कह देते थे।

अब मुड़कर देखता हूँ तो उसकी मन:स्थिति को समझ सकता हूँ। वास्तव में बलराज के मन का असन्तोष उस बड़े असन्तोष का अंग ही था जो उन दिनों हमारे देश के वातावरण में व्याप रहा था। आए दिन, देशव्यापी स्तर पर, देश की आजादी के लिए आन्दोलन उठ रहे थे। सारा देश उद्वेलित था। सारे देश में असन्तोष पाया जाता था। मुझे बलराज की सोच में जिस दिशाहीनता का भास हो रहा था, वह वास्तव में उनके मन की अकुलाहट थी। उनका संवेदन अपने लिए सही अभिव्यक्ति पाने के लिए छटपटा रहा था। बलराज के सामने लक्ष्य साफ नहीं था। पैसा कमाने का लालच भी उसे नहीं था। बस, मन में अकुलाहट थी, असन्तोष था, पर किस ओर को मुड़ें यह साफ नहीं था।

यह असन्तोष उस कालखण्ड की देन था। दिल में उठनेवाले बलवले आत्माभिव्यक्ति के लिए आतुर थे। साथ-ही-साथ किसी बड़े ध्येय के साथ जुड़ने की छटपटाहट थी। वह व्यक्तिगत जीवन के तंग घेरे में नहीं बने रहना चाहते थे, यह असन्तोष किसी बड़े क्षेत्र में, किसी बड़े काम में, किसी बड़े लक्ष्य के लिए आत्माभिव्यक्ति के लिए छटपटा रहा था।

बात खुलकर बाहर आ गयी। अब बार-बार घर में बहसें होने लगी थीं। घर में तनाव बढ़ता जा रहा था। पिताजी बार-बार समझाते :

''देख, मैंने गरीबी देखी है। मैं नहीं चाहता तुम्हें मेरी तरह ठोकरें खानी पड़े।'' और बलराज का एक ही उत्तर होता:

''आप मुझ अपना आशीर्वाद दीजिए और मुझे जाने दीजिए।''

कभी पिताजी अपने सफेद बालों का वास्ता डालते, कभी अपनी कमाई के बही खाते खोल-खोलकर दिखाते। पर बलराज पर कोई असर नहीं हो रहा था। पिताजी बड़े व्याकुल थे, एक बार तो उन्होंने अपने सिर पर से पगड़ी तक उतारकर उसके सामने रख दी। हर बार मैं उनका वार्तालाप सुनता तो मेरा दिल बैठ जाता। मुझे बलराज के व्यवहार में बड़ी धृष्टता नजर आती और रुखाई भी। पिताजी तरह-तरह के वास्ते डाल रहे थे और उस पर कोई असर नहीं हो रहा था। मुझे पिताजी के साथ अधिकाधिक सहानुभूति होने लगी थी और बलराज पर गुस्सा आने लगा था।

तभी मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि मैं बराबर पिताजी के साथ बना रहूँगा और व्यापार में उनका हाथ बटाऊँगा, बलराज बेशक जाएँ, जहाँ जाना चाहते हैं।

माँ का तर्क बड़ा साफ था। वह बार-बार यही कहतीं, ''तुम इसे क्यों रोते हो, जाने दो जहाँ जाना चाहता है। जब पंछी पंख निकालते हैं तो क्या घोंसले में बने रहते हैं, वे तो फर्र से उड़ जाते हैं। इसे खुशी-खुशी विदा करो।''

आखिर एक दिन 20 सितम्बर, 1937 का दिन था– बलराज ने घण्टाभर बैठकर मुझे कुछेक नियम समझाये C.I.F.C.I. क्या होता है, F.O.R. क्या होता है, आदि। फिर घरवालों से विदा ली और अपनी पत्नी के साथ विदा हो गये।

जिन्दगी के लम्बे सफर में उनका पहला पड़ाव लाहौर ही था।

अब सोचता हूँ तो पिताजी के व्यवहार पर भी हैरानी होती है। पिताजी तब न तो वयोवृद्ध थे–वह केवल साठेक वर्ष के रहे होंगे, न ही बलराज के चले जाने से उनके व्यापार को बड़ा धक्का लगनेवाला था। न तो पिताजी की कोई दुकान थी, न कोई गोदाम था, न ही पिताजी ने व्यापार में अपनी कोई पूँजी लगा रखी थी, न ही वह सट्टा करते थे। वह बलराज को केवल उन ठोकरों से बचाना चाहते थे जो उन्हें अपने संघर्ष के दिनों में खानी पड़ी थीं। या फिर वही परम्परागत भीरु स्वभाव था कि बेटा घर पर ही रहे और पुश्तैनी काम सम्भाले। बस, इतना ही हालाँकि वह स्वयं हम भाइयों को लन्दन और कराची में बैठाने की योजनाएँ बनाया करते थे। पर वह घरेलू व्यापार के घेरे में ही था।

पर जिस दिन बलराज को चले जाना था पिताजी का रवैया बहुत बदला हुआ था। तब वह उसकी रवानगी के बारे में चिन्तित थे। पति-पत्नी के लिए पंजाबी प्रथा के अनुसार पिन्नियाँ बनवा रहे थे, बलराज को एक हजार रुपये का चेक दिया था, और सबसे हृदयस्पर्शी बात–दस-बारह पोस्टकार्ड लिख लाये थे जिन सब पर एक ही वाक्य लिखा था :

''पिताजी, मैं हर तरह कुशलपूर्वक हूँ। आप चिन्ता न करें।''

आपका बेटा
बलराज

बस इतना ही। और सभी पर अपना पता लिख दिया था। पोस्टकार्ड बलराज के हाथ में देते हुए बोले थे :

''हफ्ते में एक दिन, इनमें से एक पोस्टकार्ड पर दस्तखत करके मुझे डाल दिया करना। भूलना नहीं, इतना भी तो करेगा न?''

और देर तक बलराज की पीठ सहलाते रहे थे।

बलराज के घर छोड़ जाने के बाद मैं बड़ी तत्परता से पिताजी के व्यापार-कार्य में योग देने लगा ताकि उन्हें बलराज की अनुपस्थिति का भास न हो। हमारा व्यापार सीधा-साधा था, हम केवल कमीशन-एजेण्ट थे, नमूने दिखाकर बाजार से ऑर्डर लेते और जब माल आ जाता और व्यापारी बैंक में अदायगी करके माल छुड़ा लेता तो हम कमीशन के हकदार बन जाते। इस तरह हमारा मुख्य काम बाजार से नमूने दिखाकर ऑर्डर लेना था।

मुझे बाजार का कोई तजर्बा नहीं था। मैं तो कभी किसी दुकान पर गया था तो खरीदार के नाते ही जिसे देखकर दुकानदार की बाँछें खिल जाती हैं, मुझे क्या मालूम कि एजेण्ट से मिलने का दुकानदार में कोई विशेष उत्साह नहीं होता। हमारे दफ्तर में मुंशी था, बाजार में घूम-फिरकर नमूने दिखानेवाला दलाल था, पर न जाने यह मैंने कहाँ से सीखा था कि सब काम खुद करना चाहिए। शायद यह उन नैतिक नियमों का प्रभाव रहा हो, जो बचपन में हमारे कान में डाले जाते थे जिनमें पुरुषार्थ पर विशेष बल दिया जाता था। शायद पिताजी को आश्वस्त करने के लिए मैं अत्यधिक उत्साह दिखा रहा था। मुझे चाहिए था कि नमूने दिखाने का काम दलाल पर छोड़ देता और जब यह बुनियादी काम हो जाता हो ऑर्डर लेने के लिए दुकानदार के पास स्वयं पहुँच जाता। मैं बाजार के कायदे-कानून से भी परिचित नहीं था। यह नहीं कि दुकान में ग्राहक बैठा हो और इधर कमीशन-एजेण्ट नमूने लेकर पहुँच जाए। या दोपहर के वक्त दुकानदार सोया पड़ा हो और एजेण्ट पहुँच जाए। दुकानदार की नजर में एजेण्ट का रुतबा, ऊँचा रुतबा नहीं होता। शुरू-शुरू में मैं वक्त-बेवक्त पहुँच जाता। कभी-कभी दिल को ठेस भी लगती, क्योंकि एम.ए. तक की पढ़ाई करने के बाद ऐसा काम करने के लिए मन में उत्साह नहीं होता।

पिताजी की बाजार में अच्छी साख थी, एक व्यापारी के नाते भी और एक नागरिक के नाते भी। पर मैं उसका भी लाभ उठाना नहीं चाहता था। इस प्रकार की धृष्टता जीवन में बार-बार मेरे आड़े आयी है।

शायद, यह गांधीवाद का ही प्रभाव रहा हो। मैं गांधीवाद का भी दामन थामे हुए था। मैं मुनाफे पर काम नहीं करना चाहता था, केवल कमीशन से सन्तुष्ट रहना चाहता था। और मैं विलायती माल भी नहीं बेचना चाहता था। अब बाजार में ऐसे 'आदर्शवाद' को कौन पूछता है? विलायती माल के प्रति मेरी उदासीनता को देखते हुए पिताजी ने जगह-जगह पत्र-व्यवहार करके दो-तीन एजेंसियाँ भारतीय कारखानों की भी ले दीं जिनमें कानपुर की जुग्गीलाल कमलापत सिंघानिया कॉटन मिल्स भी थी। पिताजी तो कमीशन पर काम करते रहे थे, क्योंकि उनके लिए कोई कोई विकल्प नहीं था। पर यह तो सीधा-सादा व्यापार था कि जहाँ पचास गाँठों के लिए ऑर्डर आप दुकानदारों से लेते हैं, वहाँ दस गाँठें अपने लिए भी ले लें और खुले बाजार में बेचें। पर नहीं, मेरे लिए यह मुनाफाखोरी थी।

ऐसे ही पूर्वाग्रह लेकर मैं व्यापार करने निकला था। फिर भी गाड़ी चलने लगी। ऑर्डर मिलने पर मैं आश्वस्त भी हो जाता, दुकानदारों की बेरुखी का गाहे-बगाहे कड़वा घूँट भी पी लेता।

फिर जंग छिड़ गयी। बाजार में तेजी आने लगी। जंग छिड़ जाने पर जहाँ लड़ाई के मैदान में जवान मरते हैं, वहाँ बाजार में जोबन आता है, दुकानदारों के पौ-बारह होते हैं। अगर मैंने बाजार में पाँच आने प्रति गज के दाम पर ऑर्डर लिया है तो माल आने तक दाम बढ़कर छः-सात आने गज तक जा पहुँचेगा। उन दिनों तो हमारे दफ्तर का मुंशी और दलाल भी इसरार करने लगे कि हम भी बाजार की इस तेजी का लाभ उठाएँ। पर मेरी धृष्टता बराबर बनी रही।

एक दिन पिताजी ने आग्रह किया कि मैं कुछ दिन के लिए लाहौर चला जाऊँ। मैं उनका मतलब समझ गया। वह चाहते थे कि मैं वहाँ जाकर देखूँ कि बलराज के काम-काज की क्या स्थिति है। बलराज चले गये थे पर उनको लेकर पिताजी की चिन्ता बराबर बनी रहती थी।

मैं झट से तैयार हो गया। नेकी और पूछ-पूछ। मैंने साथ में नमूनों का एक बक्सा भी ले लिया कि कुछ व्यापारियों से सम्पर्क भी करूँगा, कुछ ऑर्डर मिले तो लेता आऊँगा।

लाहौर में मालरोड पर एक सिन्धी की जानी-पहचानी कपड़े की दुकान थी। मैं एक दिन प्रातः एक ताँगे पर नमूनों का बक्सा रखकर उस दुकान पर जा पहुँचा। सेठ से दुआ-सलाम हुई। उसने सिर हिलाया और बोला, "आप नमूने छोड़ जाओ हम देख लेंगे।" मुझे यह सही लगा। वह आराम से नमूने देख ले, मैं भी इत्मीनान से घण्टा-दो घण्टा बाद पहुँच जाऊँगा। मैंने नमूनों का बक्सा दुकान के अन्दर रखवा दिया।

"मैं किस वक्त आऊँ सेठजी?"

"तुम कल आ जाओ।"

मैं ठिठका। इस तरह तो मेरा पूरा दिन खाली चला जाएगा। पर फिर यह सोचकर कि ऐसी जल्दी भी क्या है, सेठ आराम से नमूने देख ले, मैं भाई के साथ घूमूँ-फिरूँगा, मैं दुकान पर से उतर आया।

दूसरे दिन प्रात: दस बजते ही मैं उसकी दुकान पर जा पहुँचा। मैंने जिक्र किया तो दुकान का एक कर्मचारी जो बही-खाते पर झुका हुआ था, मेरी ओर देखे बिना ही बोला :

''अभी सेठ ने नहीं देखा है, कल आना।''

सेठ दुकान में नहीं था। मैं दुकान में से निकलकर चबूतरे पर जा खड़ा हुआ, यह सोचकर कि सेठ अभी आता ही होगा। पर फिर पीछे से आवाज आयी :

''सेठ देर से आएगा। कचहरी गया है।''

मैं दुविधा में पड़ गया। नमूनों का बक्सा यहाँ पड़ा रहेगा तो और कहीं इसे दिखा नहीं सकूँगा। सारा दिन बर्बाद हो जाएगा। पर लाचार, मैं फिर से चबूतरे पर से उतर आया और घर की राह ली।

अगले दिन सवेरे जब मैं फिर वहाँ पहुँचा तो सेठ चबूतरे पर टहल रहा था। मुझे लगा आज कुछ काम बन जाएगा। पर मैंने चबूतरे पर कदम रखा ही था कि सेठ खीझ कर बोला :

''तुम तो पीछे ही पड़ गये हो। नहीं देखे हैं तुम्हारे नमूने। जब वक्त मिलेगा, देख लेंगे।''

मुझे तो आग लग गयी। मुझे और तो कुछ नहीं सूझा, मैं दुकान के चबूतरे पर से उतर आया, एक ताँगा बुलाया, गाड़ीवान की मदद से नमूनों का बक्सा ताँगे पर रखा और यह कहकर कि ''नहीं दिखाने हैं मुझे नमूने।'' ताँगे पर जा बैठा।

जब ताँगा चल पड़ा तो मैंने सुना, सेठ अपने किसी कारिन्दे से कह रहा था : ''अब एजेण्ट भी अकड़ दिखाने लगे हैं।'' और वह खी-खी करे हँस रहा था।

मैं बड़ा बेचैन हुआ। अगर यह लाहौर न होकर कोई दूसरा शहर होता तो मैं अपना क्षोभ और गुस्सा पी जाता, मुझे इतना क्लेश नहीं पहुँचता। पर यह लाहौर था, जहाँ कुछ ही समय पहले मैं शाहजादों की तरह घूमता-फिरता था। दिल में हिलोरें उठती थीं, कभी खेलकूद के मैदान की ओर तो कभी पुस्तकालयों की ओर, नयी-नयी उमंगें लिए भागता फिरता था। उसी लाहौर में मुझे यह बेरुखी सहनी पड़ रही थी। जब ताँगा यूनिवर्सिटी हॉल के सामने से गुजरा तो मेरा रोना निकल गया।

व्यापार में मेरी रुचि नहीं पा रही थी। इससे मुझे आन्तरिक सुख नहीं मिलता था। इसे बढ़ाने की दिशा में मुझे नये-नये तौर-तरीके सूझ भी नहीं रहे थे। न ही मेरी कोई महत्त्वाकांक्षा इससे जुड़ती थी। एम.ए. की तालीम व्यापार के आड़े आती है, विशेषकर हमारे जैसे व्यापार के। कमीशन पर केवल ऐसे एजेण्ट काम कर सकते हैं जिनके पास ऐसे माल की एजेंसियाँ हों जो हाथों हाथ बिकता हो। फिर मेरे अपने पूर्वाग्रह भी थे। दुकानदार की गद्दी पर बैठना मेरे लिए नागवार था। विलायती माल बेचने से भी मुझे चिढ़ थी और मुनाफे पर मैं काम करना नहीं चाहता था। ऐसी मानसिकतावाला व्यक्ति क्या खाक व्यापार करेगा? हमारे घर का माहौल भी ऐसा नहीं था कि उसके व्यापार के लिए प्रेरणा मिले। पिताजी स्वयं तब तक व्यापार में कम और आर्य समाज के कार्यकलाप में अधिक रूचि लेने लगे थे। व्यापार के कुछ पुराने सप्लायर उनके अपने हाथ में थे, ज्यादा के वह महत्त्वाकांक्षी नहीं थे। व्यापार के क्षेत्र में मैंने पिताजी जैसा कोई व्यक्ति नहीं देखा जो व्यापार से रिटायर हो रहा हो। भला व्यापार से भी कोई रिटायर होता है?

एक बार एक छोटी-सी घटना घटी जहाँ मेरी प्रतिक्रिया बड़ी अप्रत्याशित रही। मैं बाजार से थका-माँदा लौटा था। बुनाईवाली ऊन के कुछ नमूने दुकानदारों को दिखाता रहा था। मैं उस दिन खोया-खोया लौटा था। एक दुकानदार बड़ी रुखाई से पेश आया था।

मैं अपने कमरे में चुपचाप जा बैठा था, जब कुछ देर बाद मेरी नजर अंगीठी पर पड़ी एक किताब की ओर उठ गयी। मेरे अन्दर ज्वार-सा उठा। मैंने लपककर किताब उठा ली और उसके पन्ने पलटने लगा। वह पुस्तक अँग्रेजी उपन्यास Wuthering Heights थी। मेरे अन्दर अजीब-सी अकुलाहट उठ रही थी, और मेरा मन रोने को कर रहा था। मुझे लग रहा था जैसे मैं कुछ खो बैठा हूँ जिसे फिर से कभी भी नहीं पा सकूँगा कि मैं किसी ऐसे क्षेत्र से कट गया हूँ कि जिससे मुझ शान्ति और अपार सुख मिलता है।

इससे पहले भी मैं, कुछ-कुछ इससे मिलती-जुलती मन:स्थिति का अनुभव कर चुका था, जब बैठे-बैठे लगता जैसे समय की गति थम गयी है, और मैं शून्य में, निरुद्ध-सा बैठा हूँ। मेरे हाथ-पाँव फूल रहे हैं, मेरी आँखों के सामने काँच की चादर-सी बिछ गई है, जैसे मेरे शरीर और मन, दोनों को लकवा मार गया है। और, मैं निश्चेष्ट-सा शून्य में ताकता रह जाता। ऐसी स्थिति कुछ देर तक बनी रहती और मुझे निढाल-सा छोड़ जाती।

मेरा मन व्यापार से जरूर उचटने लगा था। वचनबद्धता तो अब भी बनी हुई थी। उसे छोड़ने का तो सवाल ही नहीं उठता था। पर वह मुझे रास नहीं आ रहा था। मैं अन्दर-ही-अन्दर असन्तुष्ट-सा रहने लगा था।

बलराज और दम्मो कुछ समय तक लाहौर में रहते रहे थे। बलराज अपने दो साथियों के साथ 'मण्डे मॉर्निंग' नाम से

एक साप्ताहिक पत्रिका अँग्रेजी में निकालने की धुन में लगे रहे थे। उस पत्रिका की सूचना देनेवाले कुछ इश्तहार भी मुझे भेज चुके थे। पीले रंग के इश्तहार थे, जिन्हें मैं उन दिनों श्रीनगर में, अपने घर के आसपास पेड़ों पर लगाता रहा था। पत्रिका का प्रकाशन तो हुआ, उसके तीन अंक भी निकले, पर तीसरा अंक निकलते-निकलते बलराज बीमार पड़ गये। उधर पैसे की भी कमी थी और अनुभव की भी। तन्दुरुस्त होने पर बलराज ने पत्रिका में से हाथ खींच लिया और शान्तिनिकेतन की राह ली जहाँ वह हिन्दी के अध्यापक के रूप में नियुक्त हो गये। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी उन दिनों वहाँ हिन्दी विभाग का संचालन कर रहे थे।

धीरे-धीरे मेरे लिए गाड़ी का काँटा बदलने लगा।

उन्हीं दिनों बलराज ने मुझे शान्तिनिकेतन से एक नाटक भेजा, नाम था The Ghost Train और लेखक था Arnold Ridlay. बलराज को यह नाटक पसन्द आया था। मैंने यह नाटक पढ़ा और झट से उसका हिन्दुस्तानी भाषा में अनुवाद करने बैठ गया। जब अनुवाद पूरा हुआ तो नाटक का मंचन करने की ललक उठी।

पर मंचन कैसे हो? न कोई नाटक-मण्डली थी और न कोई नाटक-गृह। न ही कोई आसपास नाटकों में रुचि लेनेवाला।

मुझे अपने पुराने इण्टरमीडिएट कॉलेज की याद आयी, जहाँ मैं लाहौर जाने से पहले पढ़ता था। अब जब कॉलेज डिग्री कॉलेज बन चुका था और कॉलेज के प्रिंसिपल मेरे ही पुराने अध्यापक—श्री जसवन्त राय—थे, और अब तो वह हमारे निकट के सम्बन्धी भी थे। बलराज की शादी उनकी छोटी बहन से हुई थी।

मैं उनसे जा मिला। कॉलेज में नाटक खेलूँगा तो बड़ी सुविधा होगी, स्टेज की सुविधा, अदाकार भी यही से मिल जाएँगे और दर्शक भी। प्रिंसिपल साहब को प्रस्ताव पसन्द आया। कॉलेज को भी इससे लाभ ही लाभ था, कॉलेज में नाटक मण्डली तैयार हो जाएगी। नाटक खेले जाने लगेंगे।

पर प्रिंसिपल साहब को एक अड़चन नजर आयी।

''लड़कों के लिए तुम बाहर के आदमी हो। कहाँ तक वे तुम्हारे साथ सहयोग करेंगे, मैं कह नहीं सकता।'' फिर कुछ देर तक सोचते रहने के बाद बोले, ''पर इसका एक इलाज है। तुम कॉलेज में ऑनरेरी तौर पर पढ़ाने लग जाओ। दिन में घंटे-दो घण्टे के लिए आ जाया करो। दो-एक क्लासें मैं तुम्हें दे दूँगा। इस तरह तुम्हें लड़कों का पूरा सहयोग मिलने लगेगा।''

नेकी और पूछ-पूछ। मैंने झट से हाँ कर दी। कॉलेज हमारे घर के नजदीक ही था। घण्टे-दो घण्टे पढ़ाने के बाद मैं आसानी से दफ्तर को भी जा सकता था। और नाटक के रिहर्सल तो शाम को होते हैं। और साहित्य का अध्यापन तो अपने में बड़ा ही सन्तोषप्रद होना चाहिए।

मैं कॉलेज में पढ़ाने लगा। मुझे याद है, पहले दिन कक्षा में जाने से पहले मैं घबरा रहा था। अध्यापक के लिए पहला दिन बड़ा नाजुक होता है, उस दिन का प्रभाव उसके समूचे कैरियर के लिए कई बार निर्णायक होता है। अगर छात्रों को मैं प्रभावित नहीं कर पाया तो मेरा नाटक भी धरा का धरा रह जाएगा। क्लास में जाने से पहले एक अन्य अध्यापक ने, जो बलराज के मित्र भी थी, मुझे कामयाबी का गुर बताते हुए कहा:

''तुम बोलना बन्द नहीं करना। बोलते जाना। यही सबसे बड़ा गुर है। धाराप्रवाह बोलते जाओगे तो लड़के चुप रहेंगे, बीच में अटक गये या रुक गये तो वे समझेंगे अध्यापक कुछ नहीं जानता।''

मेरा पहला दिन ठीक निकल गया। पढ़ाई के दिनों में डिबेटिंग में भाग लेता रहा था, स्टेज पर अभिनय भी करता रहा था। गाड़ी चल निकली। सुबह पढ़ाने जाता, शाम को रिहर्सल करता। दोनों मनपसन्द काम थे। उधर व्यापार का काम भी अधिक स्फूर्ति से करने लगा।

उस समय मुझे मालूम नहीं था कि मेरी जिन्दगी का काँटा बदल रहा है। घंटे-दो घण्टे का सौजन्य अध्यापन बाद में मेरा व्यवसाय बन जाएगा, और कॉलेज में खेला गया पहला नाटक एक शृंखला की पहली कड़ी साबित होगा और मुझे देशव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन की ओर खींच ले जाएगा।

एक और दृष्टि से भी नाटक की प्रस्तुति निर्णायक सिद्ध हुई। नाटक कामयाब हुआ। उसे देखनेवालों में शीला भी थी—मेरी भावी पत्नी—वह भी अपने पिताजी के साथ नाटक देखने आयी थी। उसे नाटक कैसा लगा, यह तो मैं नहीं जानता पर उसके पिताजी को मैं जरूर पसन्द आया। और इस तरह मेरे भावी जीवन का रास्ता भी साफ होने लगा। नाटक देखने के बाद जरूर पिता ने अपनी बेटी से पूछा होगा, ''तुम्हें नाटक कैसा लगा?'' और बेटी ने कहा होगा, ''अच्छा लगा है'' और इसी को पिता ने उसकी स्वीकृति मान लिया होगा। कम-से-कम बाद में शीला मुझे ऐसा ही कुछ बताया करती थी। ''मैंने तो कहा था मुझे नाटक पसन्द आया। न जाने उन्होंने कैसे समझ लिया कि मुझे तुम पसन्द आये हो।'' वह कहा करती।

निश्चय ही मैं अधिक उत्साह से काम करने लगा। और अपनी रुचियों के सूत्र फिर से पकड़ने लगा जिन्हें, मैं सोचता था कि सदा के लिए खो चुका हूँ। एक सूत्र साहित्य का भी

था। मुझे गाहे-बगाहे अपनी फुफेरी बहनों से नये-नये प्रकाशनों के बारे में सूचना मिलती रहती थी। उन्हीं दिनों नाथूराम प्रेमी द्वारा शरत्-साहित्य प्रकाशित हुआ था। मैंने पूरा सेट मँगवा लिया। एक-एक प्रति आठ-आठ आने में आती थी। पूरा सेट शायद अठारह रुपए में मिल गया था। उन्हीं दिनों 'यामा' भी छपकर आयी। महादेवी वर्मा की कविताएँ दिल को गहरे में छूती थीं :

तू जल जल होता जितना क्षय
वह समीप आता, छलनामय
मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।

कुछ समय बाद 'अतीती के चलचित्र' भी पढ़ने को मिली। उसमें भी अनेक चरित्र बड़े सजीव और मार्मिक होकर उभरे थे।

मैं गाहे-बगाहे लेख लिखने लगा, एक लेख शायद *संस्कृति और साहित्य* शीर्षक से 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ। एक और लेख 'सरस्वती' में भी। उसका शीर्षक आज मुझे याद नहीं।

जब से हमें कानपुर स्थित जुग्गीलाल कमलापत सिंघानिया की एजेंसी मिली थी, मुझे साल में दो-एक बार जरूर कानपुर जाना होता था। और कानपुर का दौरा मुझे इसलिए भी रास आता था कि रास्ते में दिल्ली में दो-चार दिन के लिए रुकने का मुझे मौका भी मिल जाता। और मैं सीधा अपनी फुफेरी बहन सत्यवती मल्लिक के घर जा पहुँचता। वह घर मेरे लिए साहित्यिक गतिविधि का केन्द्र था। वहीं पर पहली बार मैं जैनेन्द्रजी से मिला। जैनेन्द्र, विष्णु प्रभाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, वात्स्यायन, आदि-आदि। वहीं पर नयी-नयी किताबों की चर्चा सुनता। जो कमी मुझे रावलपिण्डी में खलती थी, वह यहाँ पूरी हो जाती।

यह सब लिखते हुए सहसा मुझे मिर्ज़ा अज़ीम बेग चुगताई याद हो आये। कैसे कुछ समय के लिए कुछ नाम उभरकर आते हैं, और फिर सहसा ही कहीं डूब जाते हैं। उन दिनों हास्य रस के लेखकों में अज़ीम बेग चुगताई की बड़ी चर्चा हुआ करती थी। मैं भी उनकी कृतियों को बड़े चाव से पढ़ता था, वैसे ही जैसे बचपन में सुदर्शन की कहानियों को। पर अब उनका जिक्र सुनना ही दुर्लभ हो गया है।

दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने की देर थी कि परिदृश्य बड़ी तेजी से बदलने लगा। उन दिनों की धड़कन आज भी महसूस करता हूँ। ब्रिटिश सरकार का सारा ध्यान जंग की ओर घूम गया था, और भारत के प्रति वह पहले से भी ज्यादा निष्ठुर और उदासीन होती जा रही थी। यहाँ तक कि जब बंगाल में दुर्भिक्ष फूटा और देखते-ही-देखते कुछ ही समय में तीस लाख से अधिक प्राणी सिसक-सिसककर मर गये तो भी सरकार निश्चेष्ट बैठी रही। उसी कालखण्ड के आसपास रवीन्द्रनाथ ठाकुर का वह पत्र जो एक ब्रिटिश महिला के नाम उन्होंने बीमारी की हालत में लिखा था, देश-भर को झकझोर गया था, जिसमें उन्होंने लिखा था कि फौजी सामान पहुँचाने के लिए रेलगाड़ियाँ दिन-रात चलती हैं और बन्दरगाहों तक सामान पहुँचाती हैं। पर उनकी जरूरत का सामान भारतवासियों तक पहुँचाने के लिए गाड़ियाँ उपलब्ध नहीं हैं।

बंगाल के दुर्भिक्ष के दिनों में ही नाट्यकर्मियों का एक छोटा-सा दल हमारे शहर रावलपिंडी में आया। कैण्टोन्मेण्ट के एक सिनेमाघर में उसने अपना नाटक प्रस्तुत किया। बंगाल के दुर्भिक्ष को लेकर नाटक था, स्टेज की दृश्य सज्जा न के बराबर थी, पीछे की ओर एक खाट बिछी थी और कुछ मैले-कुचैले कपड़े अलगनी पर टँगे थे। पर रोंगटे खड़े करने वाला नाटक था। जब एक बूढ़े व्यक्ति की भूमिका में बिनॉय रॉय, हरीकेन लैम्प हाथ में उठाये यह कहते हुए दाखिल हुए 'बंगाल की कहानी सुनोगे?' उस क्षण से ही दर्शक नाटक के साथ बँध गये थे। नाटक में इतना दर्द था, और अभिनय इतना प्रभावशाली कि जब नाटक के बाद, अभिनेता-अभिनेत्री, झोली फैलाये, मंच पर से उतरीं और दुर्भिक्ष पीड़ितों के लिए सहायता माँगने आयी तो मेरे सामने की सीट पर बैठी एक युवती ने कानों में से अपनी सोने की बालियाँ उतारकर झोली में डाल दीं।

यह 'इप्टा' के साथ मेरा पहला परिचय था। इस नाट्यमंडली के बिनॉय रॉय और प्रेम धवन तथा गिने-चुने कुछेक और युवक-युवतियाँ आये थे।

उन्हीं दिनों मैंने एक कहानी भी लिखी। शीर्षक था— 'नीली आँखें' और श्री अमृतराय को भेज दी जो उन दिनों 'हंस' का सम्पादन कर रहे थे। कहानी छप गयी, मुझे आठ रुपये मुआवजा भी मिला। दिल बल्लियों उछलता रहा।

कभी-कभी सोचता हूँ कि जिन्दगी में मैंने, अपनी इच्छाओं से विवश होकर कोई भी दोटूक फैसला नहीं किया। मैं स्थितियों के अनुरूप अपने को ढालता रहा हूँ। अन्दर से उठनेवाले आवेग और आग्रह तो थे, पर मैं उन्हें दबाता भी रहता था। मैंने किसी आवेग को जुनून का रूप लेने नहीं दिया। मैं कभी भी यह कहने की स्थिति में नहीं था कि जिन्दगी में यही एक मेरा रास्ता है, इसी पर चलूँगा।

साहित्य-सृजन की ओर भी मैं कोई दोटूक निर्णय लेकर

उन्मुख हुआ हूँ, ऐसा नहीं था। ऐसा शायद होता भी नहीं है। मैं अपनी परिस्थितियों के चौखटे में ही अपनी रुचियों को फिट बैठाने की चेष्टा करता रहा हूँ। मेरे लिए घर में पहले से ही साहित्यिक माहौल बहुत कुछ बना हुआ था। साहित्य सृजन का दरवाजा पहले से खुला था। और हाईस्कूल तक पहुँचते-पहुँचते मैं कुछ लिखने भी लगा था। मेरे लिए रास्ता चुनने की नौबत कभी नहीं आयी। मेरी स्थितियों के रहते ही मैं अपना रास्ता बनाता रहा। 'एक ही साधे सब सधे' वाली आदर्श स्थिति मेरे भाग्य में नहीं थी। और मेरी ऐसी मानसिकता भी नहीं थी।

इस तरह आजादी से पहले मैं चार-चार काम एक साथ कर रहा था। व्यापार भी कर रहा था, कॉलेज में पढ़ा भी रहा था, नाटक भी यदा-कदा खेल रहा था और थोड़ा-थोड़ा लिखने भी लगा था। दिल में उत्कट इच्छाएँ तो उठती थीं पर अपनी परिस्थितियों के घेरे में ही मैं उनकी पूर्ति कर पाने की चेष्टा करता रहता था।

कभी-कभी सोचता हूँ, यदि साहित्य-सृजन जीवन की सच्चाई की खोज है तो जीवन के अनुभव इस खोज में सहायक ही होते होंगे। इस तरह जीवन के अनुभवों को गौण तो नहीं माना जा सकता। इन अनुभवों से दृष्टि भी मिलती है, सूझ भी बढ़ती है, लेखक के संवेदन को भी प्रभावित कर पाते होंगे। मैं इस तरह की युक्तियाँ देकर अपनी ढांढ़स बँधाता रहता था।

पर एक बार जरूर, भावनाओं के ज्वार से विवश होकर मैंने कदम उठाया था और कांग्रेस के दफ़्तर में जा पहुँचा था और सदस्यता के लिए अपना नाम लिखवा आया था।

वे सचमुच वलवलों के दिन थे।

यूरोप में जंग चल रही थी और आए दिन लोमहर्षक खबरें सुनने को मिल रही थीं। हिटलर की 'ब्लिट्जक्रीग' के सामने बड़े-बड़े पराक्रमी देश हथियार डाल रहे थे। फ्रांस नौ दिन में हिटलर के कब्जे में आ गया था। और उसकी फौजें तेजी से सोवियत संघ की ओर बढ़ रही थीं। देश के अन्दर उत्तेजना बढ़ती जा रही थी। बंगाल के दुर्भिक्ष के दौरान, ब्रिटिश सरकार के रवैये से सारा देश क्षुब्ध हो उठा था। वातावरण में विरोध की भावना तेजी से बढ़ रही थी। एक बार तो कांग्रेस का जुलूस कैण्टोन्मेण्ट में दूर तक जा पहुँचा था, और जब एक गोरा सार्जेण्ट, क्रुद्ध होकर अपनी पिस्तौल पर हाथ रखे उसे रोकने के लिए बढ़ा तो उस पर पथराव होने लगा था।

इससे थोड़ा समय पहले बलराज, शान्तिनिकेतन छोड़कर सेवाग्राम चले गये थे और वहाँ पर 'नयी तालीम' पत्रिका में उप-सम्पादक के रूप में काम करने लगे थे। इस मौके से लाभ उठाकर मैं भी कुछ समय के लिए सेवाग्राम पहुँच गया था, जहाँ मुझे गांधीजी को नजदीक से देखने का अवसर मिला। एक बार तो गांधीजी के साथ छोटा-सा वार्तालाप भी हुआ जिसका ब्योरा मैं कई बार दे चुका हूँ। सेवाग्राम सपाट-सी जगह थी, कुछ सूनी-सूनी जहाँ गांधीजी, अपने आश्रमवासियों के साथ रहते थे। सुबह वह घूमने निकलते तब कोई भी उनके साथ चल सकता था, कोई भी आगे बढ़कर बात कर सकता था, बहस कर सकता था। सपाट, सीधी सड़क जहाँ खत्म होती, वहाँ एक छोटी-सी कुटिया थी, जिसमें एक रुग्ण व्यक्ति रहता था। शायद उसे दिक् का रोग था। गांधीजी उस कुटिया में जाते, वह गुजरात का ही रहनेवाला रहा होगा, क्योंकि दोनों गुजराती भाषा में ही वार्तालाप करते। गांधीजी सम्भवतः उसके इलाज में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे क्योंकि वह काफी देर तक उसके साथ उसके उपचार के बारे में विचार-विमर्श करते।

सेवाग्राम छोटी-सी सपाट बस्ती थी, पर यह सोचकर आश्चर्य होता था कि उस छोटी-सी बस्ती में भारत का दिल धड़कता था। उन दिनों अमरीकी पत्रकार जान गुन्थर ने लिखा था कि जिस समय, जिस स्थान पर गांधी होता है, वहीं देश की राजधानी होता है।

एक छोटा-सा अनुभव याद आता है। इलाहाबाद नगर से कुछ दूरी पर नागमेला चल रहा था। सैकड़ों सँपेरे अपनी-अपनी पिटारियों में फनियार साँप रखे, दूर मन्दिर तक लम्बी लाइन लगाये बैठे थे, और दूर-पार के गाँवों से आनेवाले लोग भारी संख्या में मन्दिर की ओर बढ़ रहे थे।

मैं भी बगल में अखबार दबाये मन्दिर की ओर बढ़ता जा रहा था, जब देहात के लोगों की एक छोटी-सी टोली मेरे पास से गुजरी। उनमें से एक ग्रामीण, सम्भवतः मेरी बगल में खोंसे अखबार को देखकर रुक गया था। मेरे पास आकर बोला।

''बाबू, अखबार में क्या लिखा है? बापू कैसे हैं? उनका स्वास्थ्य कैसा है?''

उन दिनों गांधीजी अनशन कर रहे थे। उनके अनशन का शायद सोलहवाँ दिन था। उस ग्रामीण के चेहरे को देखते ही पता चल जाता था कि वह गांधीजी के स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित था। गांधीजी के साथ लाखों लाख भारतवासियों के दिल के तार जुड़ते थे।

कांग्रेस में नाम लिखवाया तो मुझे लगा जैसे मैं किसी बड़े विशाल आँगन में प्रवेश कर गया हूँ। मैं ऐसे क्षेत्र में जा पहुँचा हूँ जिसे में केवल दूर-दूर से ही देखा करता था। जब पहले दिन खादी का कुर्ता-पाजामा पहना, जो अपने में कोई बड़ी

बात नहीं थी, पर मुझे रोमांच हो आया। एक अजीब गौरव से भरी भावना, एक हिलोरे-सी मेरे अन्दर उठ रही थी। मैं कहीं जुड़ रहा था, मैं अपने को उस देशव्यापी जनान्दोलन का अंग मानने लगा था, जो उस समय एक सैलाब की तरह उठ रहा था। सड़क पर चलते हुए मेरा मन कहता, कोई मेरी ओर देखे और कहे कि यह आदमी भी उस विशाल जनान्दोलन में शामिल है, उसका हिस्सा है।

कांग्रेस का सदस्य बनकर मैंने अपने अन्दर पाये जानेवाले एक बाँध को ही तोड़ा था। मैं मूलत: भावनात्मक स्तर पर ही उस जनान्दोलन से जुड़ा था, मैं सब कुछ छोड़कर उसमें कूद नहीं गया था।

पर इस जुड़ाव ने मुझे बहुत कुछ दिया। बड़ी संख्या में कांग्रेस कार्यकर्ताओं को नजदीक से देखने जानने का अवसर मिला। यहीं पर मुझे एक विशेष प्रकार का देशभक्त देखने को मिला जिसने मुझे प्रभावित भी किया और विचलित भी। वह एक देशभक्त था जिसमें जाँनिसारी ही जाँनिसारी थी, जो न तो नेता था, न पेशेवर कार्यकर्ता, जिसके दिल के अन्दर उठनेवाली तड़प ही उसे आन्दोलन की ओर खींच लायी थी। पर आज शायद ऐसे कार्यकर्ता बहुत कम देखने को मिलते हैं। मैं कुछेक की चर्चा ऊपर कर चुका हूँ।

एक बार प्रभातफेरी के बाद, तामीरी काम में लोग एक इलाके की नालियाँ साफ कर रहे थे जब मास्टर अर्जुनदास, आनाकानी करने लगा :

''मैं नालियाँ तो साफ नहीं करूँगा,'' उसने योगीजी से कहा, ''मैं बाकी सब काम करता हूँ, चरखा कातता हूँ, शराब की दुकान के बाहर धरना देता हूँ पर गन्दी नालियाँ साफ नहीं करूँगा।'' और एक ओर को गली किनारे जा बैठा था।

''और लोग नालियाँ साफ कर सकते हैं तो तुम क्यों नहीं कर सकते?''

''योगी जी, क्यों ब्राह्मण का धर्म भ्रष्ट करते हो?''

''नालियाँ साफ नहीं करनी थीं तो घर से आये क्यों हो?''

पर मास्टर अर्जुनदास का मन नहीं माना। एक ओर को गुमसुम बैठा रहा। फिर थोड़ी देर बाद खुद ही उठ खड़ा हुआ और तसला-झाड़ू हाथ में लेकर, यह कहते हुए नाली साफ करने लगा :

''ओ गांधी बाबा, तेरे सामने पेश नहीं चलती। न जाने तू हमसे और क्या-क्या करवाएगा।''

ये लोग अन्त:प्रेरणावश कांग्रेस में आये थे। राजनीतिक मामलों के बारे में ज्यादा जानते भी नहीं थे। अन्दर की तड़प उन्हें आन्दोलन में खींच लायी थी। वह ढीला-ढाला अनुशासन अधिक स्वाभाविक था। इसमें कोई बन्दिश नहीं थी, इसे तर्क-वितर्क से ताकत नहीं मिलती थी, अन्दर के गहरे जुड़ाव से ताकत मिलती थी।

मुझे एक और छोटी-सी घटना याद हो आयी :

पंजाब एसेम्बली के चुनाव नजदीक आ रहे थे। कांग्रेस की प्रादेशिक समिति का एक प्रतिनिधि मण्डल लाहौर से इस आशय का प्रस्ताव लेकर आया कि रावलपिण्डी चुनाव क्षेत्र से लाहौर का एक बैरिस्टर, कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में खड़ा किया जाएगा। यह फैसला प्रादेशिक समिति ने किया था। प्रतिनिधि मण्डल वास्तव में इस निर्णय की मात्र सूचना देने और चुनाव में जिला समिति का सक्रिय सहयोग सुनिश्चित करने आया था।

जिला समिति की बैठक में प्रस्ताव पेश हुआ था। प्रादेशिक समिति के सदस्य भी बैठे थे और वह बैरिस्टर साहब भी जिन्हें नामजद किया गया था।

बोधराज (जो राजा बाजार में किन्हीं साबुन-तेल की इश्तहारबाजी करके अपनी रोजी कमाता था, पर कांग्रेस की जिला समिति का सदस्य था), प्रादेशिक समिति के सदस्यों पर बरस पड़ा :

''मैं पूछ सकता हूँ कि जिला समिति के साथ मशविरा किए बिना प्रादेशिक समिति ने किस तरह हमारे निर्वाचन क्षेत्र के लिए अपना उम्मीदवार खड़ा कर दिया है?''

उसके शब्द आज भी मेरे कानों में गूँजते हैं।

स्थानीय पदाधिकारी उसे चुप कराने की कोशिश करते रहे पर बोधराज टस-से-मस नहीं हुआ।

''अगर रावलपिण्डी चुनाव क्षेत्र की बात है तो इस क्षेत्र से हमारा कोई आदमी इस योग्य नहीं कि उसे खड़ा किया जा सके? क्या जिला कमेटी से पूछा नहीं जा सकता था?''

जब उसे चुप कराने की कोशिश की गयी तो वह बौखला उठा।

''यह धाँधली है। हम गैर जमहूरी काम नहीं होने देंगे।...''

मेरे लिए ये लोग नये थे, किसी अलग धातु के बने थे। वलवलों के सहारे जीनेवाले, जो अपने लिए कुछ नहीं माँगते थे, स्वतन्त्रता आन्दोलन की धड़कनों पर ही इनका दिल धड़कता था। ये सियासतदान नहीं थे, ज्यादा जानते-समझते भी नहीं थे, पर निर्भीक थे, आस्था के पक्के थे, हर तरह के जोखिम उठाने के लिए तैयार रहते थे। ये लोग देश की आजादी के लक्ष्य से प्रेरित होकर कांग्रेस की ओर खिंचे आये थे। बेबाक थे, दिल की बात खुलकर कहते। भले ही कांग्रेस के संचालन में इनकी भूमिका नगण्य रही हो पर कांग्रेस के जनतन्त्रात्मक

आधार को मजबूत बनाने में इनका योगदान बहुमूल्य था। कांग्रेस के कार्यकलाप में खुलापन पाया जाता था। कांग्रेस का जो सम्पर्क जनसाधारण के साथ व्यापक स्तर पर हुआ और बरसों तक बना रहा वह इन्हीं के कारण हुआ। इन्हीं के रहते कांग्रेस केवल बुद्धिजीवियों की अथवा सम्पन्न वर्ग की जमात नहीं रह गयी थी। इसी ने कांग्रेस को जनाधार दिया था। यों भी उन दिनों पेशेवर सियासतदान नहीं हुआ करते थे, अधिकांश देशभक्त ही हुआ करते।

मुझे एक और छोटी सी कहानी याद हो आयी।

उन दिनों मैं श्रीनगर में था। एक दिन प्रात: क्या देखता हूँ कि हमारे कांग्रेस के कार्यकर्ता दौलतराम चले आ रहे हैं। दौलतराम, रावलपिण्डी में एक आढ़ती की दुकान का कारिन्दा था। शरीर का भारी-भरकम, अपना बैग उठाये हमारे घर की ओर आ रहा था।

पास आते ही बोला :

''मैं नेहरू से मिलने आया हूँ। तुम्हें मालूम है, वह यहाँ पर हैं?''

''हाँ मालूम है।''

उन दिनों शेख अब्दुल्ला जेल में थे (यह राजा हरीसिंह के शासनकाल की बात है। और पण्डित नेहरू शेख अब्दुल्ला की रिहाई के सिलसिले में अदालती कार्रवाई पर विचार करने आये थे)।

''तुम मेरे साथ चलो,'' दौलतराम बोले।

''चलूँगा। तुम रात की बस से आये हो, नहा-धो लो, फिर चलेंगे।''

''इसके लिए वक्त नहीं है। मैं रात की बस से आया ही इसलिए हूँ कि सुबह-सुबह उनसे जा मिलूँ। और मुझे आज ही लौटकर भी जाना है।''

''पर तुम्हारे कपड़े मुचड़े हुए हैं। यह सूरत लेकर जाओगे?''

''तुम चलो तो, वह निकल गये तो मेरा आना बेकार जाएगा।''

मैं दौलतराम के साथ हो लिया। पण्डित नेहरू, नदी किनारे एक हाउस बोट में ठहरे हुए थे।

''क्या कहना है तुम्हें पण्डितजी से?'' मैंने पूछा।

''दो दिन बाद पण्डितजी यहाँ से चले जाएँगे। एक दिन के लिए रास्ते में रावलपिण्डी ठहरेंगे। वहाँ हमने उनके ठहरने का प्रबन्ध किया है। पर पता चला है कि वह देसराज के यहाँ ठहरेंगे। हम नहीं चाहते कि वह देसराज के घर पर ठहरें। वह आदमी बदनाम है। इससे कांग्रेस बदनाम होती है। तुम तो जानते हो।''

हम पण्डितजी के ठिकाने पर पहुँचे तो पता चला कि पण्डितजी कुछ देर के लिए बाहर गये हैं, शीघ्र ही आते होंगे।

हम लोग हाउस बोट की बैठक में जा बैठे।

कुछ ही देर बाद पण्डित नेहरू आए। हम उठकर बाहर आ गए। मेरे साथी ने हाथ जोड़कर कहा, ''हम एक विनती लेकर आए हैं। मैं रावलपिण्डी से आया हूँ।'' और अपनी विनती सुना दी।

पण्डित नेहरू खीझकर बोले :

''यह क्या मजाक है। मेरे ठहरने का इन्तजाम आप लोग करेंगे। मुझे क्या मालूम मुझे किस घर में ठहराया जाएगा।''

''इसीलिए हम हाजिर हुए हैं कि आप वहीं पर ठहरें जहाँ हम ठहराएँगे। वह आदमी आपको अपने साथ ले जाने की कोशिश करेगा।''

''क्या नाम है उसका?''

''देसराज। देसराज कोहली।''

''हाँ, उसका तार मुझे मिला है। पर उसने तो कांग्रेस कमेटी की ओर से तार दिया है।''

''वह मक्कार आदमी है। उसका कोई एतबार नहीं। जालसाज है। अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर के साथ सज-वाज करता रहता है।...''

इस पर नेहरूजी फिर खीझ उठे :

''इससे मुझे क्या? आप लोग मेरा वक्त बर्बाद कर रहे हो।''

''आपका वक्त बर्बाद हो रहा है तो मैं भी बस में धक्के खाता, बारह घण्टे का सफर तय करके आया हूँ। कोई मतलब था तभी आया हूँ। हम काँग्रेस को बदनाम होता नहीं देख सकते। वह आदमी बदनाम है...अगर आपका वक्त बर्बाद हो रहा है, तो हम जा रहे हैं। मैंने अपना फर्ज पूरा कर दिया...'' और वह दरवाजे की ओर बढ़ गया।

पण्डित नेहरू जितनी जल्दी क्रुद्ध हुए थे, उतनी जल्दी ठण्डे पड़ गए। दौलतराम के कन्धे पर हाथ रखकर बोले :

''तो भाई, इसका फैसला तुम वहीं पर कर देते ना! तुम्हें यहाँ आने की क्या जरूरत थी? योगीजी से कहो उसे बता दें। मैं कांग्रेस का मेहमान बनकर ही रहूँगा।''

आजादी के पहले के इन वर्षों में जब राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य तेजी से बदल रहा था, मेरे लिए नये-नये प्रभावों का जैसे रेला उमड़ आया था। इस सबके रहते मैं व्यापार-कार्य करता रहा। और उस वक्त तक जब तक देश का बँटवारा नहीं हो गया।

('आज के अतीत' राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से साभार)

चीफ की दावत

भीष्म साहनी

आज मिस्टर शामनाथ के घर चीफ की दावत थी।

शामनाथ और उनकी धर्मपत्नी को पसीना पोंछने की फुर्सत न थी। पत्नी ड्रेसिंग गाउन पहने, उलझे हुए बालों का जूड़ा बनाए मुँह पर फैली हुई सुर्खी और पाउड़र को मले और मिस्टर शामनाथ सिगरेट पर सिगरेट फूँकते हुए चीजों की फेहरिस्त हाथ में थामे, एक कमरे से दूसरे कमरे में आ-जा रहे थे।

आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी। कुर्सियाँ, मेज, तिपाइयाँ, नैपकिन, फूल, सब बरामदे में पहुँच गए। ड्रिंक का इंतजाम बैठक में कर दिया गया। अब घर का फालतू सामान अलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, माँ का क्या होगा?

इस बात की ओर न उनका और न उनकी कुशल गृहिणी का ध्यान गया था। मिस्टर शामनाथ, श्रीमती की ओर घूम कर अँग्रेजी में बोले - 'माँ का क्या होगा?'

श्रीमती काम करते-करते ठहर गईं, और थोड़ी देर तक सोचने के बाद बोलीं - 'इन्हें पिछवाड़े इनकी सहेली के घर भेज दो, रात-भर बेशक वहीं रहें। कल आ जाएँ।'

शामनाथ सिगरेट मुँह में रखे, सिकुडी आँखों से श्रीमती के चेहरे की ओर देखते हुए पल-भर सोचते रहे, फिर सिर हिला कर बोले - 'नहीं, मैं नहीं चाहता कि उस बुढ़िया का आना-जाना यहाँ फिर से शुरू हो। पहले ही बड़ी मुश्किल से बंद किया था। माँ से कहें कि जल्दी ही खाना खा के शाम को ही अपनी कोठरी में चली जाएँ। मेहमान कहीं आठ बजे आएँगे इससे पहले ही अपने काम से निबट लें।'

सुझाव ठीक था। दोनों को पसंद आया। मगर फिर सहसा श्रीमती बोल उठीं - 'जो वह सो गईं और नींद में खर्राटे लेने लगीं, तो? साथ ही तो बरामदा है, जहाँ लोग खाना खाएँगे।'

'तो इन्हें कह देंगे कि अंदर से दरवाजा बंद कर लें। मैं बाहर से ताला लगा दूँगा। या माँ को कह देता हूँ कि अंदर जा कर सोएँ नहीं, बैठी रहें, और क्या?'

'और जो सो गई, तो? डिनर का क्या मालूम कब तक चले। ग्यारह-ग्यारह बजे तक तो तुम ड्रिंक ही करते रहते हो।'

शामनाथ कुछ खीज उठे, हाथ झटकते हुए बोले - 'अच्छी-भली यह भाई के पास जा रही थीं। तुमने यूँ ही खुद अच्छा बनने के लिए बीच में टाँग अड़ा दी!'

'वाह! तुम माँ और बेटे की बातों में मैं क्यों बुरी बनूँ? तुम जानो और वह जानें।'

मिस्टर शामनाथ चुप रहे। यह मौका बहस का न था, समस्या का हल ढूँढ़ने का था। उन्होंने घूम कर माँ की कोठरी की ओर देखा। कोठरी का दरवाजा बरामदे में खुलता था। बरामदे की ओर देखते हुए झट से बोले - मैंने सोच लिया है, - और उन्हीं कदमों माँ की कोठरी के बाहर जा खड़े हुए। माँ दीवार के साथ एक चौकी पर बैठी, दुपट्टे में मुँह-सिर लपेटे, माला जप रही थीं। सुबह से तैयारी होती देखते हुए माँ का भी दिल धड़क रहा था। बेटे के दफ्तर का बड़ा साहब घर पर आ रहा है, सारा काम सुभीते से चल जाये।

माँ, आज तुम खाना जल्दी खा लेना। मेहमान लोग साढ़े

तो तेरी तरक्की होगी बेटा?
तरक्की यूँ ही हो जाएगी? साहब को खुश रखूँगा, तो कुछ करेगा, वरना उसकी खिदमत करनेवाले और थोड़े हैं?
तो मैं बना दूँगी, बेटा, जैसे बन पड़ेगा, बना दूँगी।
और माँ दिल ही दिल में फिर बेटे के उज्ज्वल भविष्य की कामनाएँ करने लगीं और मिस्टर शामनाथ, अब सो जाओ, माँ, कहते हुए, तनिक लड़खड़ाते हुए अपने कमरे की ओर घूम गए।

सात बजे आ जाएँगे।

माँ ने धीरे से मुँह पर से दुपट्टा हटाया और बेटे को देखते हुए कहा, आज मुझे खाना नहीं खाना है, बेटा, तुम जो जानते हो, मांस-मछली बने, तो मैं कुछ नहीं खाती।

जैसे भी हो, अपने काम से जल्दी निबट लेना।

अच्छा, बेटा।

और माँ, हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे। उतनी देर तुम यहाँ बरामदे में बैठना। फिर जब हम यहाँ आ जाएँ, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना।

माँ अवाक बेटे का चेहरा देखने लगीं। फिर धीरे से बोलीं - अच्छा बेटा।

और माँ आज जल्दी सो नहीं जाना। तुम्हारे खर्राटों की आवाज दूर तक जाती है।

माँ लज्जित-सी आवाज में बोली - क्या करूँ, बेटा, मेरे बस की बात नहीं है। जब से बीमारी से उठी हूँ, नाक से साँस नहीं ले सकती।

मिस्टर शामनाथ ने इंतजाम तो कर दिया, फिर भी उनकी उधेड़-बुन खत्म नहीं हुई। जो चीफ अचानक उधर आ निकला, तो? आठ-दस मेहमान होंगे, देसी अफसर, उनकी स्त्रियाँ होंगी, कोई भी गुसलखाने की तरफ जा सकता है। क्षोभ और क्रोध में वह झुँझलाने लगे। एक कुर्सी को उठा कर बरामदे में कोठरी के बाहर रखते हुए बोले - आओ माँ, इस पर जरा बैठो तो।

माँ माला सँभालतीं, पल्ला ठीक करती उठीं, और धीरे से कुर्सी पर आ कर बैठ गई।

यूँ नहीं, माँ, टाँगें ऊपर चढ़ा कर नहीं बैठते। यह खाट नहीं हैं।

माँ ने टाँगें नीचे उतार लीं।

और खुदा के वास्ते नंगे पाँव नहीं घूमना। न ही वह खड़ाऊँ पहन कर सामने आना। किसी दिन तुम्हारी यह खड़ाऊँ उठा कर मैं बाहर फेंक दूँगा।

माँ चुप रहीं।

कपड़े कौन से पहनोगी, माँ?

जो है, वही पहनूँगी, बेटा! जो कहो, पहन लूँ।

मिस्टर शामनाथ सिगरेट मुँह में रखे, फिर अधखुली आँखों से माँ की ओर देखने लगे, और माँ के कपड़ों की सोचने लगे। शामनाथ हर बात में तरतीब चाहते थे। घर का सब संचालन उनके अपने हाथ में था। खूँटियाँ कमरों में कहाँ लगाई जाएँ, बिस्तर कहाँ पर बिछे, किस रंग के पर्दे लगाएँ जाएँ, श्रीमती कौन-सी साड़ी पहनें, मेज किस साइज की हो... शामनाथ को चिन्ता थी कि अगर चीफ का साक्षात माँ से हो गया, तो कहीं लज्जित नहीं होना पड़े। माँ को सिर से पाँव तक देखते हुए बोले - तुम सफेद कमीज और सफेद सलवार पहन लो, माँ। पहन के आओ तो, जरा देखूँ।

माँ धीरे से उठीं और अपनी कोठरी में कपड़े पहनने चली गईं।

यह माँ का झमेला ही रहेगा, उन्होंने फिर अँग्रेजी में अपनी स्त्री से कहा - कोई ढंग की बात हो, तो भी कोई कहे। अगर कहीं कोई उल्टी-सीधी बात हो गई, चीफ को बुरा लगा, तो सारा मजा जाता रहेगा।

माँ सफेद कमीज और सफेद सलवार पहन कर बाहर निकलीं। छोटा-सा कद, सफेद कपड़ों में लिपटा, छोटा-सा सूखा हुआ शरीर, धुँधली आँखें, केवल सिर के आधे झड़े हुए बाल पल्ले की ओट में छिप पाए थे। पहले से कुछ ही कम कुरूप नजर आ रही थीं।

चलो, ठीक है। कोई चूड़ियाँ-वूड़ियाँ हों, तो वह भी पहन लो। कोई हर्ज नहीं।

चूड़ियाँ कहाँ से लाऊँ, बेटा? तुम तो जानते हो, सब जेवर तुम्हारी पढ़ाई में बिक गए।

यह वाक्य शामनाथ को तीर की तरह लगा। तिनक कर बोले - यह कौन-सा राग छेड़ दिया, माँ! सीधा कह दो, नहीं हैं जेवर, बस! इससे पढ़ाई-वढ़ाई का क्या तअल्लुक है! जो जेवर बिका, तो कुछ बन कर ही आया हूँ, निरा लँडूरा तो नहीं लौट आया। जितना दिया था, उससे दुगना ले लेना।

मेरी जीभ जल जाये, बेटा, तुमसे जेवर लूँगी? मेरे मुँह से यूँ ही निकल गया। जो होते, तो लाख बार पहनती!

साढ़े पाँच बज चुके थे। अभी मिस्टर शामनाथ को खुद भी नहा-धो कर तैयार होना था। श्रीमती कब की अपने कमरे में जा चुकी थीं। शामनाथ जाते हुए एक बार फिर माँ को हिदायत करते गए - माँ, रोज की तरह गुमसुम बन के नहीं बैठी रहना। अगर साहब इधर आ निकलें और कोई बात पूछें, तो ठीक तरह से बात का जवाब देना।

मैं न पढ़ी, न लिखी, बेटा, मैं क्या बात करूँगी। तुम कह देना, माँ अनपढ़ है, कुछ जानती-समझती नहीं। वह नहीं पूछेगा।

सात बजते-बजते माँ का दिल धक-धक करने लगा।

अगर चीफ सामने आ गया और उसने कुछ पूछा, तो वह क्या जवाब देंगी। अँग्रेज को तो दूर से ही देख कर घबरा उठती थीं, यह तो अमरीकी है। न मालूम क्या पूछे। मैं क्या कहूँगी। माँ का जी चाहा कि चुपचाप पिछवाड़े विधवा सहेली के घर चली जाएँ। मगर बेटे के हुक्म को कैसे टाल सकती थीं। चुपचाप कुर्सी पर से टाँगें लटकाए वहीं बैठी रही।

एक कामयाब पार्टी वह है, जिसमें ड्रिंक कामयाबी से चल जाएँ। शामनाथ की पार्टी सफलता के शिखर चूमने लगी। वार्तालाप उसी रौ में बह रहा था, जिस रौ में गिलास भरे जा रहे थे। कहीं कोई रूकावट न थी, कोई अड़चन न थी। साहब को व्हिस्की पसन्द आई थी। मेमसाहब को पर्दे पसंद आए थे, सोफा-कवर का डिजाइन पसंद आया था, कमरे की सजावट पसन्द आयी थी। इससे बढ़ कर क्या चाहिए। साहब तो ड्रिंक के दूसरे दौर में ही चुटकुले और कहानियाँ कहने लग गए थे। दफ्तर में जितना रोब रखते थे, यहाँ पर उतने ही दोस्त-परवर हो रहे थे और उनकी स्त्री, काला गाउन पहने, गले में सफेद मोतियों का हार, सेंट और पाउडर की महक से ओत-प्रोत, कमरे में बैठी सभी देसी स्त्रियों की आराधना का केंद्र बनी हुई थीं। बात-बात पर हँसतीं, बात-बात पर सिर हिलातीं और शामनाथ की स्त्री से तो ऐसे बातें कर रही थीं, जैसे उनकी पुरानी सहेली हों। और इसी रो में पीते-पिलाते साढ़े दस बज गए। वक्त गुजरते पता ही न चला।

आखिर सब लोग अपने-अपने गिलासों में से आखिरी घूँट पी कर खाना खाने के लिए उठे और बैठक से बाहर निकले। आगे-आगे शामनाथ रास्ता दिखाते हुए, पीछे चीफ और दूसरे मेहमान। बरामदे में पहुँचते ही शामनाथ सहसा ठिठक गए। जो दृश्य उन्होंने देखा, उससे उनकी टाँगें लड़खड़ा गई, और क्षण-भर में सारा नशा हिरन होने लगा। बरामदे में ऐन कोठरी के बाहर माँ अपनी कुर्सी पर ज्यों-की-त्यों बैठी थीं। मगर दोनों पाँव कुर्सी की सीट पर रखे हुए, और सिर दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ झूल रहा था और मुँह में से लगातार गहरे खर्राटों की आवाजें आ रही थीं। जब सिर कुछ देर के लिए टेढ़ा हो कर एक तरफ को थम जाता, तो खर्राटें और भी गहरे हो उठते। और फिर जब झटके-से नींद टूटती, तो सिर फिर दाएँ से बाएँ झूलने लगता। पल्ला सिर पर से खिसक आया था, और माँ के झरे हुए बाल, आधे गंजे सिर पर अस्त-व्यस्त बिखर रहे थे।

देखते ही शामनाथ क्रूद्ध हो उठे। जी चाहा कि माँ को धक्का दे कर उठा दें, और उन्हें कोठरी में धकेल दें, मगर ऐसा करना सम्भव न था, चीफ और बाकी मेहमान पास खड़े थे।

माँ को देखते ही देसी अफसरों की कुछ स्त्रियाँ हँस दीं कि इतने में चीफ ने धीरे से कहा - पुअर डियर!

माँ हड़बड़ा के उठ बैठीं। सामने खड़े इतने लोगों को देख कर ऐसी घबराई कि कुछ कहते न बना। झट से पल्ला सिर पर रखती हुई खड़ी हो गईं और जमीन को देखने लगीं। उनके पाँव लड़खड़ाने लगे और हाथों की उँगलियाँ थर-थर काँपने लगीं।

माँ, तुम जाके सो जाओ, तुम क्यों इतनी देर तक जाग रही थीं? - और खिसियाई हुई नजरों से शामनाथ चीफ के मुँह की ओर देखने लगे।

चीफ के चेहरे पर मुस्कराहट थी। वह वहीं खड़े-खड़े बोले, नमस्ते!

माँ ने झिझकते हुए, अपने में सिमटते हुए दोनों हाथ जोड़े, मगर एक हाथ दुपट्टे के अंदर माला को पकड़े हुए था, दूसरा बाहर, ठीक तरह से नमस्ते भी न कर पाई। शामनाथ इस पर भी खिन्न हो उठे।

इतने में चीफ ने अपना दायाँ हाथ, हाथ मिलाने के लिए माँ के आगे किया। माँ और भी घबरा उठीं।

माँ, हाथ मिलाओ।

पर हाथ कैसे मिलातीं? दाएँ हाथ में तो माला थी। घबराहट में माँ ने बायाँ हाथ ही साहब के दाएँ हाथ में रख दिया। शामनाथ दिल ही दिल में जल उठे। देसी अफसरों की स्त्रियाँ खिलखिला कर हँस पडीं।

यूँ नहीं, माँ! तुम तो जानती हो, दायाँ हाथ मिलाया जाता है। दायाँ हाथ मिलाओ।

मगर तब तक चीफ माँ का बायाँ हाथ ही बार-बार हिला कर कह रहे थे - हाउ डू यू डू?

कहो माँ, मैं ठीक हूँ, खैरियत से हूँ।

माँ कुछ बड़बड़ाई।

माँ कहती हैं, मैं ठीक हूँ। कहो माँ, हाउ डू यू डू।

माँ धीरे से सकुचाते हुए बोलीं - हौ डू डू ..

एक बार फिर कहकहा उठा।

वातावरण हल्का होने लगा। साहब ने स्थिति सँभाल ली थी। लोग हँसने-चहकने लगे थे। शामनाथ के मन का क्षोभ भी कुछ-कुछ कम होने लगा था।

साहब अपने हाथ में माँ का हाथ अब भी पकड़े हुए थे, और माँ सिकुड़ी जा रही थीं। साहब के मुँह से शराब की बू आ रही थी।

शामनाथ अंग्रेजी में बोले – मेरी माँ गाँव की रहने वाली हैं। उमर भर गाँव में रही हैं। इसलिए आपसे लजाती है।

साहब इस पर खुश नजर आए। बोले – सच? मुझे गाँव के लोग बहुत पसंद हैं, तब तो तुम्हारी माँ गाँव के गीत और नाच भी जानती होंगी? चीफ खुशी से सिर हिलाते हुए माँ को टकटकी बाँधे देखने लगे।

माँ, साहब कहते हैं, कोई गाना सुनाओ। कोई पुराना गीत तुम्हें तो कितने ही याद होंगे।

माँ धीरे से बोली – मैं क्या गाऊँगी बेटा। मैंने कब गाया है?

वाह, माँ! मेहमान का कहा भी कोई टालता है?

साहब ने इतना रीझ से कहा है, नहीं गाओगी, तो साहब बुरा मानेंगे।

मैं क्या गाऊँ, बेटा। मुझे क्या आता है?

वाह! कोई बढ़िया टप्पे सुना दो। दो पत्तर अनाराँ दे ...

देसी अफसर और उनकी स्त्रियों ने इस सुझाव पर तालियाँ पीटी। माँ कभी दीन दृष्टि से बेटे के चेहरे को देखतीं, कभी पास खड़ी बहू के चेहरे को।

इतने में बेटे ने गम्भीर आदेश-भरे लिहाज में कहा – माँ!

इसके बाद हाँ या ना सवाल ही न उठता था। माँ बैठ गईं और क्षीण, दुर्बल, लरजती आवाज में एक पुराना विवाह का गीत गाने लगीं – *हरिया नी माए, हरिया नी भैणे*

हरिया ते भागी भरिया है!

देसी स्त्रियाँ खिलखिला के हँस उठीं। तीन पंक्तियाँ गा के माँ चुप हो गईं।

बरामदा तालियों से गूँज उठा। साहब तालियाँ पीटना बन्द ही न करते थे। शामनाथ की खीज प्रसन्नता और गर्व में बदल उठी थी। माँ ने पार्टी में नया रंग भर दिया था।

तालियाँ थमने पर साहब बोले – पंजाब के गाँवों की दस्तकारी क्या है?

शामनाथ खुशी में झूम रहे थे। बोले – ओ, बहुत कुछ – साहब! मैं आपको एक सेट उन चीजों का भेंट करूँगा। आप उन्हें देख कर खुश होंगे।

मगर साहब ने सिर हिला कर अँग्रेजी में फिर पूछा – नहीं, मैं दुकानों की चीज नहीं माँगता। पंजाबियों के घरों में क्या बनता है, औरतें खुद क्या बनाती हैं?

शामनाथ कुछ सोचते हुए बोले – लड़कियाँ गुड़ियाँ बनाती हैं, और फुलकारियाँ बनाती हैं।

फुलकारी क्या?

शामनाथ फुलकारी का मतलब समझाने की असफल चेष्टा करने के बाद माँ को बोले – क्यों, माँ, कोई पुरानी फुलकारी घर में हैं?

माँ चुपचाप अन्दर गईं और अपनी पुरानी फुलकारी उठा लाईं।

साहब बड़ी रुचि से फुलकारी देखने लगे। पुरानी फुलकारी थी, जगह-जगह से उसके तागे टूट रहे थे और कपड़ा फटने लगा था। साहब की रुचि को देख कर शामनाथ बोले – यह फटी हुई है, साहब, मैं आपको नई बनवा दूँगा। माँ बना देंगी। क्यों, माँ साहब को फुलकारी बहुत पसन्द हैं, इन्हें ऐसी ही एक फुलकारी बना दोगी न?

माँ चुप रहीं। फिर डरते-डरते धीरे से बोलीं – अब मेरी नजर कहाँ है, बेटा! बूढ़ी आँखें क्या देखेंगी?

मगर माँ का वाक्य बीच में ही तोड़ते हुए शामनाथ साहब को बोले – वह जरूर बना देंगी। आप उसे देख कर खुश होंगे।

साहब ने सिर हिलाया, धन्यवाद किया और हल्के-हल्के झूमते हुए खाने की मेज की ओर बढ़ गए। बाकी मेहमान भी उनके पीछे-पीछे हो लिए।

जब मेहमान बैठ गए और माँ पर से सबकी आँखें हट गईं, तो माँ धीरे से कुर्सी पर से उठीं, और सबसे नजरें बचाती हुई अपनी कोठरी में चली गईं।

मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि आँखों में छल-छल आँसू बहने लगे। वह दुपट्टे से बार-बार उन्हें पोंछतीं, पर वह बार-बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बाँध तोड़ कर उमड़ आए हों। माँ ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार-बार आँखें बंद कीं, मगर आँसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही न आते थे। आधी रात का वक्त होगा। मेहमान खाना खा कर एक-एक करके जा चुके थे। माँ दीवार से सट कर बैठी आँखें फाड़े दीवार को देखे जा रही थीं। घर के वातावरण में तनाव ढीला पड़ चुका था। मुहल्ले की निस्तब्धता शामनाथ के घर भी छा चुकी थी, केवल रसोई में प्लेटों के खनकने की आवाज आ रही थी। तभी सहसा माँ की कोठरी का दरवाजा जोर से खटकने लगा।

माँ, दरवाजा खोलो।

माँ का दिल बैठ गया। हड़बड़ा कर उठ बैठीं। क्या मुझसे फिर कोई भूल हो गई? माँ कितनी देर से अपने आपको कोस रही थीं कि क्यों उन्हें नींद आ गई, क्यों वह ऊँघने लगीं। क्या बेटे ने अभी तक क्षमा नहीं किया? माँ उठीं और काँपते हाथों से दरवाजा खोल दिया।

दरवाजे खुलते ही शामनाथ झूमते हुए आगे बढ़ आए और माँ को आलिंगन में भर लिया।

ओ अम्मी! तुमने तो आज रंग ला दिया! ...साहब तुमसे इतना खुश हुआ कि क्या कहूँ। ओ अम्मी! अम्मी!

माँ की छोटी-सी काया सिमट कर बेटे के आलिंगन में छिप गई। माँ की आँखों में फिर आँसू आ गए। उन्हें पोंछती हुई धीरे से बोली - बेटा, तुम मुझे हरिद्वार भेज दो। मैं कब से कह रही हूँ।

शामनाथ का झूमना सहसा बन्द हो गया और उनकी पेशानी पर फिर तनाव के बल पड़ने लगे। उनकी बाँहें माँ के शरीर पर से हट आईं।

क्या कहा, माँ? यह कौन-सा राग तुमने फिर छेड़ दिया?

शामनाथ का क्रोध बढ़ने लगा था, बोलते गए - तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो, ताकि दुनिया कहे कि बेटा माँ को अपने पास नहीं रख सकता।

नहीं बेटा, अब तुम अपनी बहू के साथ जैसा मन चाहे रहो। मैंने अपना खा-पहन लिया। अब यहाँ क्या करूँगी। जो थोड़े दिन जिंदगानी के बाकी हैं, भगवान का नाम लूँगी। तुम मुझे हरिद्वार भेज दो!

तुम चली जाओगी, तो फुलकारी कौन बनाएगा? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इकरार किया है।

मेरी आँखें अब नहीं हैं, बेटा, जो फुलकारी बना सकूँ। तुम कहीं और से बनवा लो। बनी-बनाई ले लो।

माँ, तुम मुझे धोखा देके यूँ चली जाओगी? मेरा बनता काम बिगाड़ोगी? जानती नहीं, साहब खुश होगा, तो मुझे तरक्की मिलेगी!

माँ चुप हो गईं। फिर बेटे के मुँह की ओर देखती हुई बोली - क्या तेरी तरक्की होगी? क्या साहब तेरी तरक्की कर देगा? क्या उसने कुछ कहा है?

कहा नहीं, मगर देखती नहीं, कितना खुश गया है। कहता था, जब तेरी माँ फुलकारी बनाना शुरू करेंगी, तो मैं देखने आऊँगा कि कैसे बनाती हैं। जो साहब खुश हो गया, तो मुझे इससे बड़ी नौकरी भी मिल सकती है, मैं बड़ा अफसर बन सकता हूँ।

माँ के चेहरे का रंग बदलने लगा, धीरे-धीरे उनका झुर्रियों-भरा मुँह खिलने लगा, आँखों में हल्की-हल्की चमक आने लगी।

तो तेरी तरक्की होगी बेटा?

तरक्की यूँ ही हो जाएगी? साहब को खुश रखूँगा, तो कुछ करेगा, वरना उसकी खिदमत करनेवाले और थोड़े हैं?

तो मैं बना दूँगी, बेटा, जैसे बन पड़ेगा, बना दूँगी।

और माँ दिल ही दिल में फिर बेटे के उज्ज्वल भविष्य की कामनाएँ करने लगीं और मिस्टर शामनाथ, अब सो जाओ, माँ, कहते हुए, तनिक लड़खड़ाते हुए अपने कमरे की ओर घूम गए।

•

नाटक जिन्दगी की कोख से

अनीश अंकुर

भीष्म साहनी का नाटकों से जुड़ाव 1943 में 'इप्टा' से हुआ था, जहाँ रावलपिण्डी में उन्होंने इप्टा के सेण्ट्रल स्क्वाड के महान अभिनेता विनय राय को 'बंगाल की कहानी' पर अभिनय करते देखा था। उन्होंने ख्वाजा अहमद अब्बास द्वारा निर्देशित नाटक 'भूतगाड़ी' में अभिनय किया था। जब 1948-49 में कॉ बी.टी रणदिवे का जमाना आया और कम्युनिस्टों पर दमन शुरू हो गया। भीष्म साहनी शिमला में जब एक नाटक में अभिनय कर रहे थे उसी वक्त पुलिस उनको गिरफ्तार करने आ गयी। भीष्म साहनी को थियेटर हॉल से ही भाग के जाना पड़ा।

उसके बाद 'इप्टा' का भी विघटन हो गया और भीष्म साहनी भी नाटकों की दुनिया से दूर होते चले गये। उसी वे दौरान 1960 में वे चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग गये। तब वो एक कम्युनिस्ट देश था वहाँ उनको प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार निर्मल वर्मा मिले। निमर्ल वर्मा ने उनको एक मीनारी घड़ी दिखायी। उस घड़ी की कहानी विचित्र थी। ताला बनाने वाले एक कुफ्लसाज ने वो घड़ी बनायी थी। जैसा कि कहा जाता है कि वो वहाँ की पहली घड़ी थी। लेकिन वहाँ का राजा घड़ी बनाने वाले कुफ्लसाज की आँख सिर्फ इस कारण से फोड़ देता है कि वो वैसी दूसरी घड़ी न बना सके। वो चाहता है कि ऐसी घड़ी किसी दूसरे राजा के पास न रहे। वो घड़ी को अपने राज्य की सीमा में कैद करना चाहता था। जैसा कि अपने यहाँ ताजमहल के कारीगरों का हाथ काट दिया गया था कि वो दूसरा ताजमहल न बना सके।

भीष्म साहनी ने इस नाटक की स्क्रिप्ट अपने बड़े भाई महान अभिनेता बलराज साहनी को देखने को दी। बलराज साहनी की प्रतिक्रिया थी कि "ये नाटक-वाटक लिखना तुम्हारे वश का नहीं है तुम कहानी-वहानी ही लिखो। कहानी ही तुम्हारी विधा है"। उन्होंने इब्राहिम अल्का जी को नाटक दिखाया लेकिन उनकी भी दिलचस्पी इसे करने में नहीं हुई और स्क्रिप्ट लौटा दिया। अन्ततः ये नाटक 1977 में मंचित हुआ। तब इमरजेंसी का दौर था उसके मंचन के दौरान अमृता प्रीतम ने भीष्म साहनी को कहा कि "तुमने इमरजेंसी पर खूब चोट की, बहुत अच्छा किया" लेकिन भीष्म साहनी ने सोचा कि मैंने तो इसे इमरजेंसी को ध्यान में रखकर तो ये नाटक लिखा नहीं था लेकिन चलिए 'हानूश' जैसा जो रचनाकार-कलाकार है उसके लिए हमेशा इमरजेंसी जैसी ही स्थिति रहती है।

हिन्दी नाट्य जगत में 'हानूश' ने पिछले 25-30 वर्षों के नाट्य जगत में हलचल-सी मचा दी थी। मोहन राकेश एक ऐसे नाटककार थे जिन्होंने सत्ता

'कबिरा खड़ा बाजार में' में कबीर की जैसी पारम्परिक छवि है आध्यात्मिक सन्त की, उसके विपरीत इस नाटक में कबीर की विद्रोही व जुझारू छवि चित्रित किया गया है। कबीर अन्याय से लड़ता है, राजा से लड़ता है, उसके कोतवाल से लड़ता है।

और कलाकार के रिश्ते पर आधारित मशहूर नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' लिखा था। भीष्म साहनी का 'हानूश' भी इसी विषय पर है। इन दोनों नाटकों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए प्रख्यात नाट्य समीक्षक नेमिचन्द्र जैन कहते हैं कि ''सृजन की इच्छा की आन्तरिक अकुलाहट और गहन संवेदना जैसी 'हानूश' नाटक में है वैसी किसी दूसरे नाटक में नहीं है। व्यंजना और विडम्बना का ऐसा विरल संयोग किसी दूसरे हिन्दी नाटक में नहीं है।''

'हानूश' एक ऐसा नाटक है जो धर्म और राज्यसत्ता के अर्न्तसम्बन्ध को रेखांकित करता है। दूसरा नाटक 'कबिरा खड़ा बाजार में' भी है जो 1981 में प्रकाशित हुआ। 'कबिरा खड़ा बाजार में' में कबीर की जैसी पारम्परिक छवि है आध्यात्मिक सन्त की, उसके विपरीत इस नाटक में कबीर की विद्रोही व जुझारू छवि चित्रित किया गया है। कबीर अन्याय से लड़ता है, राजा से लड़ता है, उसके कोतवाल से लड़ता है।

जब 2003 की मृत्यु हुई तो सईद मिर्जा से लोगों ने पूछा कि वो क्या चीज थी जिसने आपको भीष्म साहनी के प्रति आकर्षित किया। सईद मिर्जा ने कहा ''मुझे एक ऐसा चेहरा चाहिए जिसमें 'इण्डियन प्रोफाइल' हो, एक ऐसा चेहरा जिसने एक इतिहास की जर्नी झेली हो, जिसके चेहरे से तारीख उभर कर आए। ये सारी चीजें भीष्म साहनी में मिलती थीं।''

धर्म और राज्यसत्ता एक केन्द्रीय तत्व है दोनों नाटकों का। 'कबिरा खड़ा बाजार में' का एक डॉयलॉग है, मशहूर संवाद है जो बार-बार दुहराया जाता है। मजहब और सियासत के रिश्ते को लेकर। कोतवाल कहता है ''मजहब के नाम पर सल्तनतें बनती हैं और सल्तनत के साये में मजहब पनपता है। हुकूमत की तलवार दीन की खिदमत करती है''। साथ ही कोतवाल, जो बादशाह सिकन्दर लोदी का नुमाइन्दा रहता है, यह भी जोड़ता है ''यदि तुम दीन के खिलाफ बोलते हो इसका मतलब निजाम के खिलाफ हो''।

यही बात 'हानूश' में है। 'हानूश' कहता है ''यदि तुम चर्च के विरुद्ध है इसका मतलब राजा के खिलाफ हो'। धर्म और राज्यसत्ता के रिश्ते को भीष्म साहनी ने पहली बार पकड़ा। गिरजे की घड़ी बनाने में 'हानूश' सफल हो जाता है। हानूश अपना पूरा जीवन लगा देता है घड़ी बनाने में। घड़ी नगरपालिका पर लगायी जाती है। राजा उस घड़ी को देखने आता है। जब राजा आता है उस समय घड़ी का घण्टा नहीं बजता है। तो राजा पूछता है कि ''अच्छा! यह अपने मन से बजेगी, मेरे मन से नहीं?'' 'हानूश' का बड़ा भाई जो पादरी है वो कहता है ''घड़ी बनाना खुदा की तौहीन करना है। यदि खुदा ने चाँद बनाया, सूरज बनाया तो क्या घड़ी नहीं बना सकता? चाँद और सूरज ही तो घड़ी है?''

घड़ी एक प्रतीक है परिवर्तन का, गति का। ये जगत परिवर्तनशील है। सब कुछ बदलता है। जो आज नया है, वो कल पुराना हो जाता है। तब लोगों के मन में ये सवाल उठ सकता है कि जब सब कुछ परिवर्तनशील है तो हमारी जिन्दगी क्यों नहीं बदलती? हमारी जिन्दगी को निर्धारित करने वाला जो धर्म और राज्यसत्ता है, वो भी तो कभी बदलेगा?

लोगों में वैज्ञानिक चिन्तन का प्रसार न हो जाए, लोग कहीं नास्तिक न होने लग जाएँ। इसी चीज से सबसे ज्यादा डर लगता है राज्यसत्ता को। उन्हें ये लगता है कि आज वो ईश्वर की सत्ता से इनकार कर रहा है, कल वो कहीं राज्यसत्ता का ही निषेध न करने लगे!

यही 'हानूश' नाटक की मुख्य बात है, केन्द्रीय तत्व है। ये नाटक कुछ-कुछ ब्रेख्त के महान नाटक 'लाइफ ऑफ गैलीलियो' से मिलता-जुलता है। ब्रेख्त के नाटक में गैलीलियो पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने का वैज्ञानिक सच अपने शिष्य के माध्यम से दुनिया को जानने के लिए बाहर भेज देता है। यही काम हानूश करता है घड़ी बनाने का भेद राज्य के बाहर भेज देता है। हानूश कहता है कि ''बड़ी बात ये नहीं है कि मैं अन्धा रहूँगा या मारा जाऊँगा बड़ी बात ये है कि घड़ी बनाने का भेद दुनिया को पता चल जाना चाहिए''

ये है नाटक 'हानूश'। ये वो समय कि जब विज्ञान विवेक के पास बैठा है, रैशनैलिटी के साथ है। जब 1992 में चेकोस्लोवाकिया का विघटन हुआ तो वहाँ के राष्ट्रपति लेव वेस्लाव ने जो वाक्य कहा वो बार-बार उद्धृत किया जाता है कहा कि ''साम्यवाद के पतन के साथ एक चीज तो हो गयी कि है कि विज्ञान है, वैज्ञानिक चिन्तन है, दुनिया को वस्तुगत रूप से जाना जा सकता है, ये अवधारणा हमेशा के लिए संकटग्रस्त हो गयी है।''

आज देखिए जो पूरी दुनिया में पूँजीवाद है वो वैज्ञानिक चिन्तन के खिलाफ है आज पश्चिम के विश्वविद्यालयों में डार्विन के बजाए बाईबिल का क्रिएशनिज्म, यानी सृष्टिवाद को पढ़ाया जा रहा है। यानी जो पूँजीवाद हानूश की मदद

करता है यानी विज्ञान के पक्ष में है। यही चीज नाटक सामने लाने की कोशिश करता है इसी विचार को 'कबिरा खड़ा बाजार में' भी सामने लाने की कोशिश भीष्म साहनी करते हैं।

भीष्म साहनी का ऐसा ही एक और नाटक है 'मुआवजे'। ये नाटक भी साम्प्रदायिकता पर आधारित है। जो बाबरी मस्जिद के विध्वंस के आस-पास लिखा गया था। मुआवजे एक ऐसा व्यंग्य नाटक है जिसमें मिथकीय पात्र नहीं है। ये नाटक सीधे-सीघे टकराता है यथार्थ से। प्रहसन शैली में लिखा गया व्यंग्य है 'मुआवजे'। दंगों के मुआवजे से सम्बन्धित संवेदनशील नाटक है। 'तमस' उपन्यास में तो आम जनता के प्रति सहानुभूति है लेकिन 'मुआवजे' नाटक में भीष्म साहनी बताते हैं कि आम जनता का भी एक हिस्सा कुछ न कुछ भ्रष्ट हो गया है। नाटक का एक पात्र अपनी बेटी की गरीब दीनू से सिर्फ इसलिए शादी करना चाहता है कि दंगों में उसके मरने के बाद जो मुआवजा मिलेगा उससे अपनी बेटी की फिर वो और अच्छी शादी कर देगा। सबको पता है कि दंगा होगा और लोग मारे जाएंगे। ठीक उसी तरह जैसे रघुवीर सहाय की कविता है 'रामदास'। सबको पता है कि 'रामदास' की हत्या होगी। इसी बात और प्रवृत्ति को ये नाटक भी सामने लाता है।
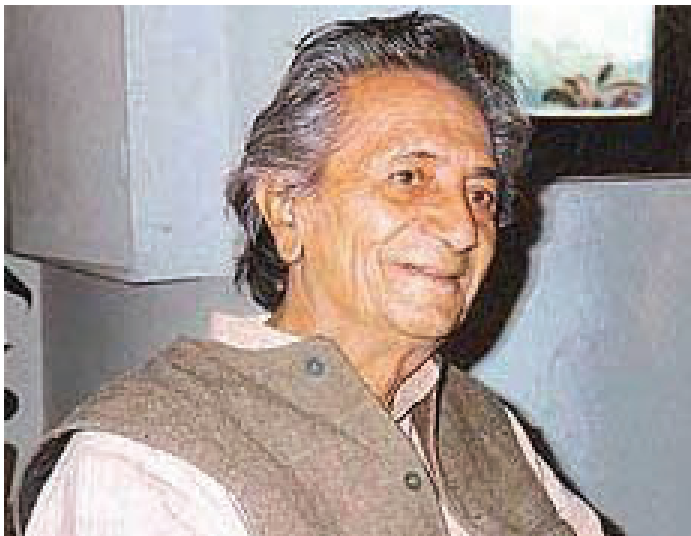
अब सवाल उठता है कि भीष्म साहनी का नाटकों की दुनिया में रचनात्मक अवदान क्या था? आप देखेंगे कि भीष्म साहनी का जब नाटक आता है 1977 में 'हानूश', 1981 'कबिरा खड़ा बाजार में', 1985 में 'माधवी', 1993 में 'मुआवजे'। ये वही दौर है जो पूरे हिन्दी इलाके में जन नाट्य आन्दोलन के भी उभार का भी दौर है। हमारी जो संस्था है उसके चर्चित होने में भीष्म साहनी के नाटक की बहुत बड़ी भूमिका थी। और पटना में तो उनके लगभग तमाम नाटक मंचित किये गये है। पूरे हिन्दी क्षेत्र में जन नाट्य आन्दोलन से जुड़ी कोई संस्था ऐसी नहीं होगी जिसने भीष्म साहनी के नाटकों का मंचन नहीं किया है। 80 के दशक में इप्टा के पुनर्जीवन में भीष्म साहनी के नाटकों का बड़ा योगदान है, जिसका आज तक ठीक से मूल्यांकन नहीं हो सका है।

1970 के दशक एक ऐसा दशक था जब पूरे हिन्दी रंगमंच में सभी बड़े नामचीन लोग 'फोक' की ओर मुड़ रहे थे। कर्नाटक में कोई 'यक्षगान' कर रहा है, कोई बंगाल में 'जात्रा' कर रहा है, कोई बिहार में 'बिदेसिया' कर रहा है। बिहार में एक रंगकर्मी तो तीन दशकों से 'बिदेसिया' में ही फँसा है। कहा गया कि आपके नाटक विदेशी है इसमें आपकी संस्कृति कहाँ है? आपका देशज कहाँ है? आपकी परम्परा कहाँ है? अब परम्परा ढूँढ़ने दो हजार वर्ष पूर्व जाइए, वहीं आपकी संस्कृति है। एक ऐसा नाटक उठाइए जिसमें कोई टेक्सट नहीं सिर्फ संगीत हो, गाना हो, मनोरंजन हो। जिसमें विजुअल इफेक्ट हो, रूपंकर महत्व की चीजें हों। इसने हिन्दी के नाटककारों की भूमिका को ही नगण्य बना दिया। हिन्दी के नाटककारों की पूरी पीढ़ी को ही नष्ट कर दिया।

इस पूरी परिघटना को अमेरिका की संस्था 'फोर्ड फाउंडेशन' ने आगे बढ़ाया। आप यदि कोई नाटक करना चाहें 'फोक' पर तो आपको तुरन्त पैसा मिल जाएगा। लेकिन आप कहिए कि धर्म और राज्यसत्ता का नया गठजोड़ बन रहा है वो भी तो हमारे देश की परम्परा बन चुकी है? अपराध, राजनीति व अर्थव्यवस्था का जो गठजोड़ है वो भी तो अब हमारे जनजीवन का हिस्सा बन चुका है। सिर्फ वही भारतीयता नहीं है जो दो हजार साल पहले थी। भीष्म साहनी के नाटक इस पूरी परिघटना के विरुद्ध एक सृजनात्मक प्रतिवाद की तरह है। आज का समय प्रतिध्वनित होता है भीष्म साहनी के नाटकों में।

'फोक' के नाम पर आधुनिकता विरोधी माहौल, खासकर नाटक की दुनिया में, बनाया जा रहा है। भीष्म साहनी इसके खिलाफ खड़े थे, इसके प्रतिपक्ष में थे। भीष्म आधुनिकता की परियोजना को आगे बढ़ाने वाले नाटककार थे। हिन्दी

उभर कर आए। ये सारी चीजें भीष्म साहनी में मिलती थीं।''

नाटक की दुनिया में कई साहित्यकार आये जिसमें सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मृदुला गर्ग, मोहन राकेश आदि लेकिन उनकी तरह कोई दूसरा इस कारण सफल नहीं हो पाये कि कि वे अपने नाटकों की स्क्रिप्ट दूसरों को नहीं सुनाया करते थे, उनसे राय नहीं लिया करते थे। अमूमन साहित्य की दुनिया से नाटक की दुनिया में आने वाले लोगों में ये हठी प्रवृत्ति विद्यामान थी कि उनकी रचना में कोई छेड़छाड़ नहीं होनी चाहिए। इन वजहों से नाटक रंगमंचीय दृष्टि से अनुकूल नहीं हो पाता। जैसे कि जयशंकर प्रसाद के नाटक हैं। लेकिन नाटक लिखने में भीष्म साहनी ने कहानी व उपन्यास से भिन्न राह पकड़ एक नयी परम्परा की शुरूआत की जैसा कि नूर जहीर कहती हैं ''अपने नाटकों के लेखन में नयी परम्परा आरम्भ की जिसमें वे नाटक के अंशों को लिख-लिख कर साथियों का सुनाते थे, राय लेते थे फिर सोचकर आगे का नाटक लिखते थे''। उन्होंने नाटककारों के साथ बैठ कई कई दृश्य बदले। जैसे 'कबिरा खड़ा बाजार में' के तीन-चार ड्राफ्ट उन्होंने तैयार किये। ये काम भीष्म साहनी से पहले हिन्दी के बहुत कम नाटककारों ने किया।

प्रदेशों की राजनीति में नब्बे के दशक में जो पुनरुत्थानवाद व साम्प्रदायिकता का जो उभार आया उसकी पूर्वपीठिका संस्कृति में खासकर नाटकों की दुनिया में सत्तर व अस्सी के दशक में ही घट रही थी।

कम लोगों को पता है कि भीष्म साहनी ने चार फिल्मों में काम किया। 'मोहन जोशी हाजिर हों', जिसे सईद अख्तर मिर्जा ने निर्देशित किया था। इसमें उन्होंने बूढ़े की भूमिका निभायी थी। पटकथा लेखक भीष्म साहनी खुद थे। 2002 में उन्होंने गुजरात दंगों पर आधारित 'मिसेज एण्ड मिसेज अय्यर', एवं 'लिटिल बुद्धा' फिल्म में काम किया।

जब 2003 में उनकी मृत्यु हुई तो सईद मिर्जा से लोगों ने पूछा कि वो क्या चीज थी जिसने आपको भीष्म साहनी के प्रति आकर्षित किया। सईद मिर्जा ने कहा ''मुझे एक ऐसा चेहरा चाहिए जिसमें 'इण्डियन प्रोफाइल' हो, एक ऐसा चेहरा जिसने एक इतिहास की जर्नी झेली हो, जिसके चेहरे से तारीख

भीष्म साहनी के नाटक लिखने की इस पद्धति को दूसरे साहित्यकारों ने अपनाया होता तो हिन्दी में मंचित किये जा सकने वाले नाट्य आलेखों का इतना अभाव न होता।

भीष्म साहनी के नाटकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है उसकी विश्वसनीयता। ये विश्वसनीयता उन्होंने समाज से गहरे जुड़ाव से हासिल किया जैसा कि वे खुद कहते हैं '' साहित्य जिन्दगी की कोख से निकलकर आये तभी वो विश्वसनीय हो पाता है''

सम्पर्क—205, घरौंदा अपार्टमेंट,
पश्चिम लोहानीपुर, कदमकुआँ, पटना-800003

रश्मि रेखा की कविताएँ

चाभी

उसे विरासत में नहीं मिला था
चाभियों का गुच्छा
हर जगह ईजाद करनी थी अपनी एक चाभी
पिछली शताब्दी के कपाट बन्द किये बिना ही
जब लोग खोलने में लगे थे
नयी शताब्दी का ताला
उसे ऐसा कई दरवाजा नहीं खोलना था
जिसे फिर से बन्द नहीं किया जा सके
वह अलीबाबा नहीं था
और न देखा था उसने चालीस चोरों को
कि कह सके खुल जा सिम सिम

मुश्किलें कब आसान होती हैं
आसान नहीं है आसान को आसान कहना
हाशिये पर बैठे को आखिरकार
आता है काम अपना साहस ही

एक छोटी-सी चाभी उड़ा ले जाती है
अंतरिक्ष में यान
एक छोटे-सी चाभी खोल देती है
स्मृतियों की तिजोरी
एक दिन यूँ ही पड़ी मिल गई
उसे कुछ चाभियाँ
जिनसे खोले जा सकते थे
जादुई ताले करिश्माई रास्तों के
वहाँ पास की चीजें दूर की नजर आती थी
और दूर की बहुत पास
खिलौनों को नचाने वाली चाभी
दिमागों में भी भरी जा रही थी
एक चुप्पी के ताले में दफन किया जा रहा था
इतिहास
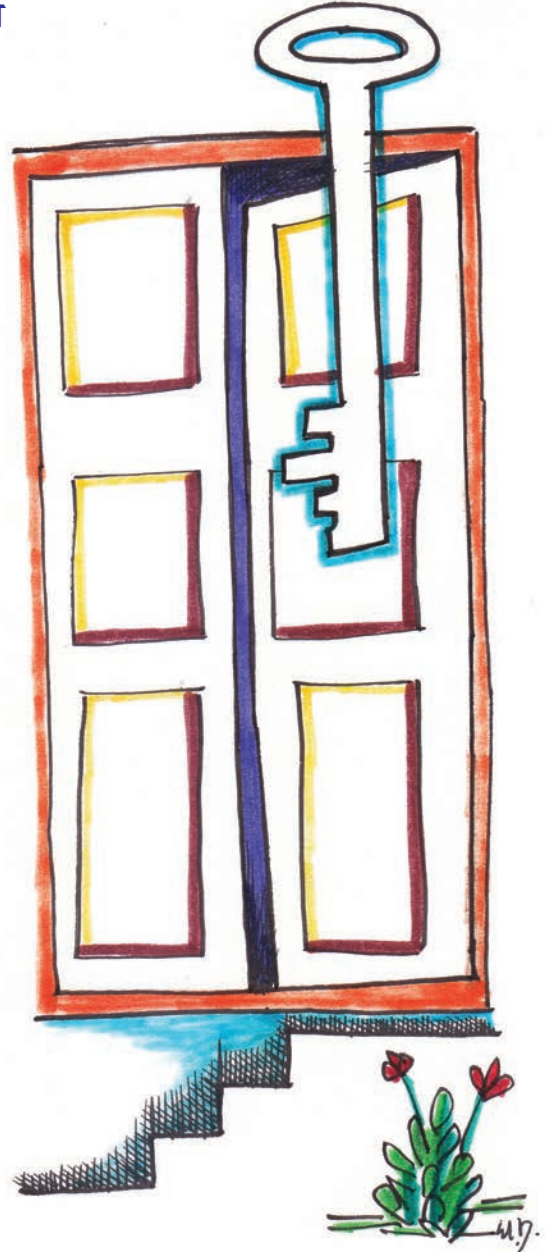
सहम कर उसने ताक पर रख दी चाभियाँ
ताक शायद होता ही है कुछ रखकर
भूल जाने के लिए

समय

एक समय वह होता है जो घड़ी बताती है
दूसरा वह जिसे शब्दों में पकड़ लेते हैं
इस दुनिया के कुछ ख़ास कवि
स्थिर हो जाता है वह समय इतिहास के बहाव में
घड़ी की टिक-टिक की तरह धड़कता है लगातार
हमारी धमनियों के रक्त में
पीढ़ी-दर-पीढ़ी

इनसे अलग एक समय वह भी है
जो हमारे सपनों में शामिल होता है
जिसके आग़ोश में रहता है सारा जीवन
हमारी स्मृतियों में भी बचा रहता है वह समय
एक नमी, एक तिनका, एक शाम की उदासी
एक पगडंडी, एक कुलाँचे भरते हिरन की तरह
स्मृतियों के आकाश में पर फैलाये उड़ते हैं
सपनों के परिंदे सारी उम्र

आज जब सूचनाओं को बदला जा रहा है
हमारी स्मृतियों में
शब्दों के घोंसले में दुबक रहे हैं सपने
इच्छाएँ अपनी जगह तलाश रही हैं
अफरा-तफरी के इस माहौल में
बड़ी मुश्किल से सुनाई देती हैं
समय की फुसफुसाहट
वे कुछ जो देख पा रहे है फिर भी
समय के आईने में उसका चेहरा
वे हैरान-परेशान है इस ख़बर से
कि सपने और स्मृतियाँ भी
खरीद-फरोख्त की वस्तुएँ हैं
और ज़ज्बात बाजार की सबसे पसंदीदा चीज
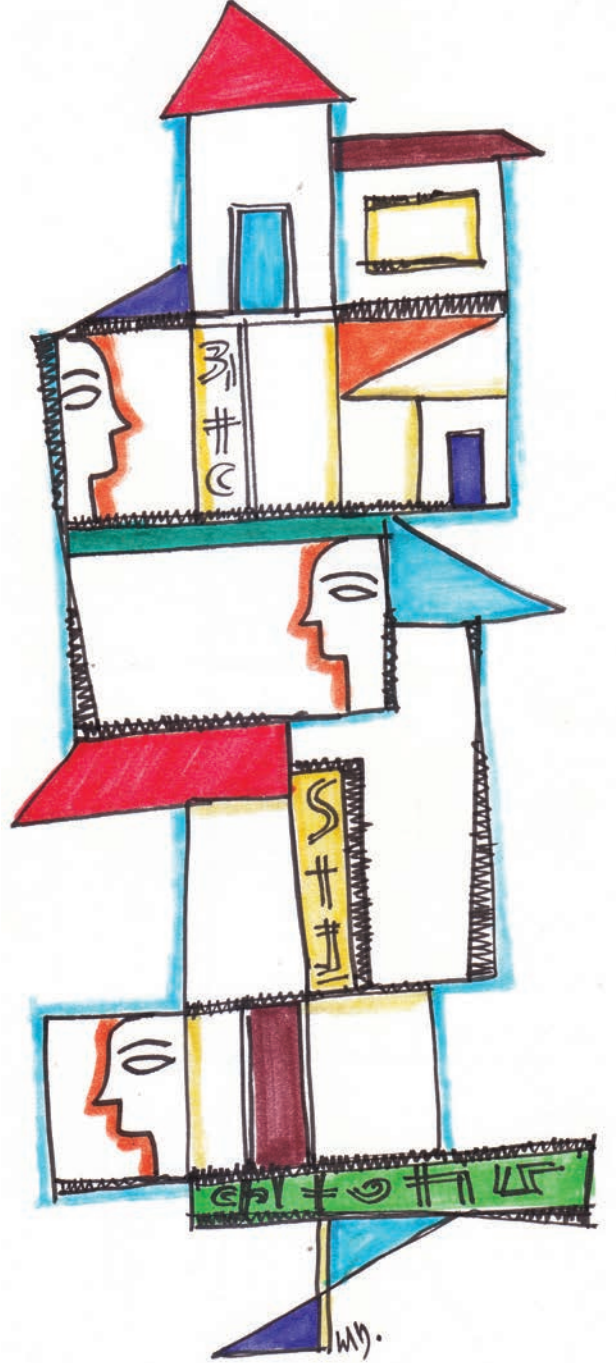
नाम की तख्ती

गाँव में हर कोई जानता है हर किसी को उसके नाम से
नाम लिखवा कर घर के सामने लटकाने की जरूरत नहीं
शौक की बात अलग है
शहरों में ऊपर-नीचे बने बेतरतीब मकानों की भीड़ में
करीने से टँगी नाम की तख्तियाँ
देती है पता घर वाले का

दीवारों पर पुते नाम
धातुओं की पट्टी पर खुदे नाम
लकड़ी के टुकड़े पर लिखे नाम
संगमरमर की आकृति पर रंगें कलात्मक नाम
देते हैं खबर घर की माली हालत की

आप सुनना चाहें तो कई जगह दीवारों पर
पुराने पड़ गए नामों की लटकती तख्तियाँ
सुनाएँगी अपनी दंत-कथाएँ
हवा में इतिहास बनकर बचे होने की
कि लाख चाहने के बाद भी उनकी संततियाँ
कैसे पार नहीं कर पाईं
उनके नाम की परछाईं

बिजली की रोशनी में दूर से दमकते
स्वर्णाक्षरों में अंकित बड़े नामों की तख्तियाँ
उन पर लदे ओहदों की चकाचौंध
उनकी चौकसी करते हथियार बन्द प्रहरियों की गश्त
एक दिन हो जायेंगी दूसरों के हवाले

अक्सर समय के इतिहास में
बच जाते हैं वे ही नाम
जिनके पास नहीं होती है
अपने नाम की कोई तख्ती

सम्पर्क– 09430051824

चित्रकारी

यामान्त
कक्षा - सात
स्प्रिंगडेल्स स्कूल, पूसा रोड,
नयी दिल्ली

पिता का पत्र पुत्र के नाम

दीपक मंजुल

मेरे प्यारे बेटे!
जब तुम स्कूल जाना तो हँसते-खिलखिलाते जाना
मजे-मजे से जाना
पर कक्षा में सदा संयत और सतर्क रहना
शिक्षक जो पढ़ाएँ उसे ध्यान से सुनना
सुनना ही नहीं, मन-ही-मन गुनना।

पढ़ाई के समय बातें मत करना
न कोई चुहल, न शरारत ही
कान और आँख सदा खुली रखना
शिक्षक के एक-एक शब्द को ऐसे सुनना
जैसे वे प्रार्थना के शब्द हों
शिक्षक के कहे शब्द ही बनेंगे तुम्हारी
सफलता के सोपान
जो तुम्हें पहुँचाएँगे शिखर तक।

मेरे प्यारे बेटे!
शुरू की कक्षाओं में सीखा गया अक्षर और शब्द-ज्ञान ही
तुम्हारे हर ज्ञान की नींव बनेगा
इसलिए हर अक्षर को बड़े प्यार से देखना, निरखना
उनके साथ हिल-मिल रहना, उनसे बातें करना
सुन्दर-सुलेख लिखना, साफ और सही भी।
अक्षर को जब कागज पर उकेरना
तो बड़े हौले से, प्यार और तरतीब से
तभी वे सार्थक शब्द बनेंगे, फिर संगत वाक्य
अक्षर-संस्कार ही तुम्हें एक बेहतर इन्सान बनाएगा।

मेरे प्यारे बेटे!
'अनुशासन ही देश को महान बनाता है,'
कहा था नेहरू चाचा ने
चाचा नेहरू की इस नसीहत को तुम अक्षरशः अपनाना
संस्कारवान और अनुशासित विद्यार्थी बनना।

माता-पिता, शिक्षक और बड़ों का सदा कहना मानना
उनका समुचित सम्मान करना
माता-पिता, शिक्षक और बड़ों के आशीर्वाद
तुम्हारे जीवन की बगिया को सदा सुरभित रखेंगे।

मेरे प्यारे बेटे!
अपने स्कूल के पुस्तकालय को मन्दिर समझना
हो सके तो इस 'मन्दिर' में नित दिन जाना
और पुस्तक पढ़ने की आदत बनाना
पुस्तकों को छूना, सूँघना, सहलाना
और उन्हें उलटना-पलटना भी ज्ञान देता है
ऐसा करने को अपना संस्कार बनाना
और सदा ही पुस्तकों के सुगन्ध-बीच रहना
पुस्तकें मनुष्य को एक बेहतर इनसान बनाती हैं।

मेरे प्यारे बेटे!
'स्वच्छता में भगवान का निवास होता है,'
कहा था प्यारे बापू ने
बापू की इस शिक्षा को अपना जीवन-मूल्य बनाना
घर से लेकर स्कूल तक
और सड़क से लेकर खेल के मैदान तक
स्वच्छता के इस मन्त्र को आजमाना
निज राष्ट्र को थोड़ा और स्वच्छ बनाना।

मेरे प्यारे बेटे!
'गीता पढ़ने से अच्छा है फुटबॉल खेलना,'
कहा था स्वामी विवेकानन्द ने
स्वामी जी के इस सन्देश को अपने जीवन में उतारना
पढ़ना तो जरूरी है, पर खेल के मैदान में भी जाना
योग, व्यायाम, दौड़ और खेलकूद को
अपने जीवन का अंग बनाना
कहते हैं, 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मानस का निवास होता है।'
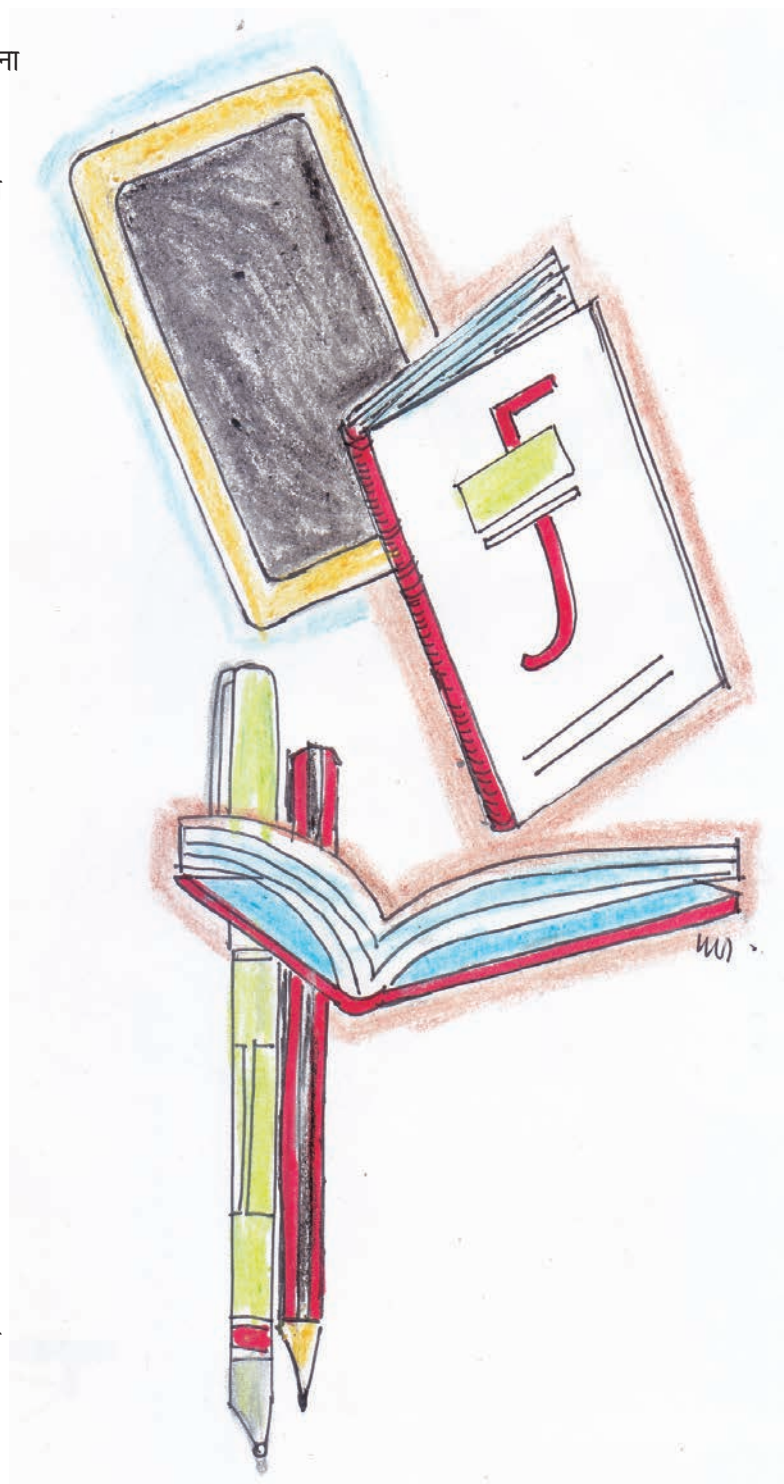
मेरे प्यारे बेटे!
परीक्षा में कभी नकल मत करना
ऐसा करके अधिक नम्बर लाने से बेहतर है
परीक्षा में असफल हो जाना
हर असफलता सफलता की नयी राह गढ़ती है।
झूठ बोलकर बचने से बेहतर है सच बोलकर मार खाना
गो कि सच की ताकत अधिक होती है झूठ से।

हर बार जीतने की जिद अच्छी नहीं होती
हार भी हमें शक्ति देती है।
नेकनीयती से रहना और सदा नेक ही करना
बदनीयती तो पर्वत की ढलान है, गिरकर बिखर जाना है।
हौसले और संकल्प को सदैव ऊँचा रखना
पंखों से नहीं, हौसले से उड़ान होती है
जीवन में अगर कुछ याद रखना
तो इस मर्म को ही याद रखना।

मेरे प्यारे बेटे!
अन्त में जो कहूँ उसे जीवन-मन्त्र समझना
और अपने जीवन में बरतना
पुस्तक पढ़ना मतलब आगे बढ़ना
इसी से, पुस्तक को अपना मित्रा बनाना
और कुछ भूलो तो भूलो, पुस्तक को मत बिसराना।
पुस्तक जो तुम पढ़ोगे तो जीवन अपना गढ़ोगे
फिर जीवन-पथ पर तुम सदा आगे-ही-आगे बढ़ोगे
सफलता का रास्ता पुस्तकों के बीच से ही गुजरता है
इसे कभी मत भूलना और गाँठ बाँध अपने मन में बिठाना।

सम्पर्क– डब्ल्यू.जेड.-216, गली नं.-7,
लाजवंती गार्डेन, नई दिल्ली-110046
मो. 093507 50555

नैतिकता के चरम आदर्श गांधी

दिव्या राय

लेखक : **सच्चिदानन्द सिन्हा**
अनुवाद : **रामजय प्रताप**

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
राजघाट, नई दिल्ली
मूल्य : 100/- रुपये

मोहनदास करमचन्द गांधी को जब 'महात्मा गांधी' कहा गया तब इसके पीछे शायद इस विचार की ही प्रेरणा थी कि दुनिया के लाखों-करोड़ों आमजनों के समान होने के बावजूद उनमें कुछ ऐसा महत्त और उदात्त भी था, जो उन्हें बाकी लोगों का अग्रणी बनाता था। गांधीजी के इस गुण को–उनकी असाधारणता–को उनके जीते जी ही जान लिया गया था, जिस के साक्ष्य उनके लिए लोकप्रिय संबोधन 'बापू' से लेकर 'राष्ट्रपति' तक में देखे जा सकते हैं। भारतीय जन-गण ने उनका नेतृत्व नि:शंक होकर स्वीकार किया था; उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक माना था–चल पड़े जिधर दो डग मग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर। इसका हिसाब लगाना कठिन है कि किस व्यक्ति के लिए वह किस रूप में आदरणीय और प्रिय थे जिसे मातु-पितु-सखा-स्वामी कहते हैं, ठीक वैसे ही करोड़ों लोग उन्हें अपनी-अपनी तरह से अपना मानते थे। सिर्फ भारतीय ही नहीं, अनेक विदेशी भी उनमें शामिल थे। उनसे असहमत लोग भी उनकी उदात्तता के कायल हो जाते थे।

गांधीजी के बारे में अल्बर्ट आइन्सटीन का यह कथन बार-बार उद्धृत किया गया है–आनेवाली पीढ़ियाँ शायद ही इस बात पर विश्वास करेंगी कि गांधी नाम का हाड़-मांस का सचमुच का एक इन्सान इस धरती पर चलता-फिरता था। वास्तव में उन्हें त्राता मानने वालों की भी कमी नहीं थी। गांधीजी के मानवीय व्यक्तित्व का यह असाधारण रूपान्तरण कैसे हुआ, यह अलग चर्चा का विषय है। फिलहाल इतना उल्लेख ही उपयुक्त है कि गांधी अपने मानवीय आदर्शों और कर्मों के कारण उस शिखर पर पहुँच चुके थे, जहाँ उन्हें आसानी से महामानव, पथ-प्रदर्शक, त्राता से लेकर पैगम्बर तक मान लिया गया। उन्होंने दुनिया के सामने सत्य, अहिंसा और प्रेम का आदर्श रखा। सादगी और परहित को जीवन में उतारा। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का अगुआ होते हुए भी उन्होंने मानव की वैश्विक एकता के आदर्श और आवश्यकता को कभी ओझल नहीं किया। मानव ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र की भलाई उनके चिन्तन और कर्म के केन्द्र में थे।

वरिष्ठ समाजवादी चिन्तक सच्चिदानन्द सिन्हा की पुस्तक 'निहत्था पैगम्बर' जिनकी बदौलत वह एक सांस्कृतिक प्राणी बनता है। उन्होंने कहा है कि समाज में नैतिक विचारों से सम्बन्धित चीजों का आविर्भाव नैतिक उपदेशकों के माध्यम से होता है, जिन्हें पैगम्बर भी कहा जाता है। सिन्हा इसी जगह महात्मा गांधी की नैतिकता का विश्लेषण करते हुए बतलाते हैं कि एक सांस्कृतिक प्राणी के रूप में मनुष्य के नैतिक विचार उसमें परोपकारिता जैसे निश्चित जन्मजात मनोवृत्तियों के आदर्शीकृत प्राकट्य हैं। ये चीजें समाज में पैगम्बरों के जरिए ठोस रूप से अभिव्यक्त होती हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि पैगम्बर अपने समय की नीतिगत समस्याओं के प्रति संवेदनशील होते हैं और नैतिक धर्मादेशों से उनका समाधान

निकालने की कोशिश करते हैं।

पैगम्बरों के बारे में जो धारणाएँ अक्सर व्यक्त की जाती है, गांधी उनके काफी करीब दिखते हैं। अस्तित्ववादियों के विपरीत गांधी का जीवन और कर्म साबित करता है कि परोपकारिता मनुष्य का जन्मजात लक्षण है। पैगम्बरों को किन्हीं दैवी या अलौकिक स्रोतों से जोड़कर देखा जाता है। लेकिन 'ईश्वरीय सत्ता' के प्रति आस्था जताने के बावजूद गांधीजी के कर्म में असम्भव-सी दिखनेवाली जिस सत्यनिष्ठा पर जोर दिया गया है वह कतई अलौकिक नहीं है। इस तथ्य को गांधीजी ने खुद अपने कर्म से साबित किया भले ही वह ज्यादातर लोगों को सामान्य नहीं लगता। गांधी पहले ऐसे इन्सान थे जिन्होंने अहिंसा के अस्त्र का एक राजनीतिक सत्ता के खिलाफ पहली बार इस्तेमाल किया।

सिन्हा के मुताबिक गांधी की राजनीतिक उपलब्धियाँ खासकर स्वतन्त्रता संग्राम में उनकी नेतृत्वकारी भूमिका से लेकर राष्ट्रपिता के रूप में मान्य होने तक की उपलब्धियाँ ऐसी हैं जिसके उदाहरण अन्यत्र भी पाए जा सकते हैं। लेकिन नैतिक मूल्यों के क्षेत्र में गांधीजी ने जो लकीर खींची वह उन्हें उनके अन्य समकालीन विभूतियों से अलग करती है और बुद्ध ईसा और मोहम्मद सरीखे पैगम्बरों की पंक्ति में ला देती है। यही यह भी याद किया जा सकता है (मूलत: अँग्रेजी में अनआर्म्ड प्रोफेट) को पढ़ते हुए महात्मा गांधी के बारे में ये तमाम बातें सहज ही ध्यान में आती हैं। सिन्हा ने इस पुस्तक की रचना एक विशेष विमर्श के सन्दर्भ में की थी। मसला था अस्तित्ववादियों द्वारा नैतिकता के बारे में रखे गए तर्क। अस्तित्ववादियों का मानना था कि जिन्हें हम 'नैतिक मूल्य' कहते हैं, उनका कोई लौकिक या अलौकिक स्रोत नहीं है, इसलिए नैतिक मूल्यों को मनुष्य के लिए अनिवार्य नहीं माना जा सकता। अस्तित्ववादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के परम हिमायती थे। इस सन्दर्भ में उनका कहना था कि हरेक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है और ऐसा कोई मानक नहीं है, जो उसके कार्यों के अच्छे या बुरे होने को प्रमाणित कर सके। उसके कार्य करने का एक निश्चित ढर्रा बन जाता है जिससे एक नियम निर्मित हो जाता है। वैसे हरेक मनुष्य अपने कार्यों के लिए स्वयं जिम्मेदार है। अस्तित्ववादी ईश्वर के अस्तित्व को भी चुनौती दे रहे थे। ऐसे में सवाल यह था कि मानव समाज क्या ईश्वर मुक्त नैतिकता या नैतिक संहिता का संधान करे या अस्तित्ववादियों के विचारों के अनुरूप सम्पूर्ण अराजकता को अपना ले। सिन्हा ने इसी सन्दर्भ में महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखने की कोशिश की है।

अराजकता की बात तो गांधीजी के सन्दर्भ में भी की जाती है। लेकिन जहाँ तक नैतिकता की बात है, निश्चित ही उन्होंने ईश्वर के प्रति आस्तिकता को कभी नहीं नकारा। बल्कि मानवीय नैतिकता का चरम आदर्श स्थापित करते हुए सत्य को ही ईश्वर के रूप में स्वीकार किया, अहिंसा जिसका अभिन्न अंग था। उनके हरेक कार्य के पीछे न्याय की प्रेरणा थी, ऐसे न्याय की जिसमें किसी का अहित न हो। वे पाप से बचने के हिमायती थे, लेकिन पापियों के प्रति दुराव या घृणा का उनमें लेस नहीं था। वस्तुत: ये तमाम चीजें उनकी आन्तरिक नैतिकता से उद्भूत थीं। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना में स्पष्ट किया है—मेरे प्रयोगों से तो आध्यात्मिक का मतलब है नैतिक धर्म का अर्थ है नीति : आत्मा की दृष्टि से पाली गई नीति धर्म है। सिन्हा ने गांधी की नैतिकता पर विचार करते हुए इस पुस्तक में अस्तित्ववादियों की अराजकता के बरक्स यह स्थापित किया है कि नैतिक मूल्यों का श्रोत मनुष्य के उस विशिष्ट अनुवांशिक प्रदायों में निहित होता है कि गांधी ने अपने सत्य आर्दश के लिए उसी तरह जान दी जैसा अनेक पैगम्बरों के साथ हुआ। सिन्हा मार्मिक तरीके से रेखांकित करते हैं कि ईसा की तरह गांधी को भी उनके अंतरंग शिष्यों ने अन्तिम क्षणों में अकेला छोड़ दिया था।

पूरी पुस्तक नैतिकता के सन्दर्भ में वैचारिक जगत के विभिन्न वादो-विवादों पर दृष्टिपात करती है और गांधी के सन्दर्भ से उनका विश्लेषण करती है। सिन्हा बतलाते हैं कि किसी भी पैगम्बर का आगमन हमेशा से आदर्शों और सांसारिक आकांक्षों में तालमेल बैठाने की लोगों की क्षमता को कठिन जाँच में डाल देता है। लोग पैगम्बर के बिना नहीं रह सकते। लेकिन उनकी मौजूदगी में कठिनाई भी महसूस करते हैं। दरअसल लोगों को पैगम्बर का जीवन और आदर्श सामान्य मानवीय क्षमता से परे मालूम पड़ता है। गांधी के साथ भी ऐसा ही है। उन्होंने जिन आदर्शों की बात की जिस नवजागरण का आह्वान किया वह अभी तक विकसित नहीं हो पाया है। आज जब विश्व सभ्यता नाना संकटों से घिरती जा रही है तब गांधी के आपसी नवीन प्रासंगिता प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे में कभी हाड-मांस से बने एक व्यक्ति के रूप में इसी धरती पर विचरने वाले गांधी किसी 'पैगम्बर' सरीखे मालूम पड़ते हैं।

पुस्तक अत्यन्त पठनीय और विचारोत्तेजक है। यद्यपि यह अँग्रेजी से अनूदित है, लेकिन यह रामजय प्रताप की अनुवादकीय दक्षता है कि इसमें भी मूल पुस्तक का-सा आनन्द आता है।

सम्पर्क—मो. 9873302543

दक्षिण अफ्रीका में

पंकज चौबे

नेटाल में पगड़ी-प्रसंग ने मोहनदास को भेदभाव का दर्शन करा दिया था जिसकी तीव्रतर अनुभूति उन्हें अफ्रीका प्रवास के बाद के दिनों में हुई। अश्वेत होने के कारण ट्रेन से उतारे जाने की घटना ने न सिर्फ मोहनदास के जीवन को बदल दिया, बल्कि यह दुनिया के इतिहास को नयी दिशा देने वाला साबित हुआ।

मोहनदास करमचन्द गांधी को अब्दुल्ला सेठ के मुकदमे के सिलसिले में प्रिटोरिया जाने का अवसर मिला। मोहनदास डरबन से प्रिटोरिया के लिए यात्रा पर निकल पड़े। मोहनदास को प्रिटोरिया तक की यात्रा कई हिस्सों में करनी थी। सबसे पहले डरबन से चार्ल्सटाउन, चार्ल्सटाउन से जोहांसबर्ग, जोहांसबर्ग से प्रिटोरिया।

मेरित्सबर्ग

मोहनदास ने डरबन से पहले दर्जे का टिकट लेकर रेलयात्रा का सफर शुरू किया। मोहनदास की ट्रेन 7 जून को रात्रि 9 बजे मेरित्सबर्ग पहुँची। मेरित्सबर्ग नेटाल की राजधानी है। यहाँ ट्रेन में पहले दर्जे के यात्रियों को बिस्तर दिये जाने की व्यवस्था थी। रेलवे कर्मचारी ने मोहनदास से बिस्तर के लिए पूछा, पर मोहन दास ने बिस्तर लेने से मना कर दिया। मोहनदास के कम्पार्टमेण्ट में एक गोरा यात्री भी सफर कर रहा था। उसने मोहनदास को अपने साथ सफर करते देखकर बाहर से रेलवे अफसरों को बुलाया। अफसर ने मोहनदास से तीसरे दर्जे के डिब्बे में जाने को कहा। मना करने पर सिपाही ने धक्का देकर मोहनदास को नीचे उतार दिया। मोहनदास वेटिंगरूम में जाकर बैठ गये। जून का महीना मेरित्सबर्ग में और सर्द होता है। मोहनदास ने ठण्ड में रात बितायी। रात-भर मन में तरह-तरह के सवाल आते रहे। यहाँ उन्हें निश्चय करना था कि आगे वह कैसे जीवन बिताना चाहते हैं। बाद में खुद इस प्रसंग के बारे में लिखा, ''मैंने अपने धर्म का विचार किया– या तो मुझे अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए या लौट जाना चाहिए। नहीं तो जो अपमान हो उन्हें सहकर प्रिटोरिया पहुँचना चाहिए और मुकदमा खत्म करके देश लौट जाना चाहिए। मुकदमा अधूरा छोड़कर भागना तो नामर्दी होगी। मुझे जो कष्ट सहना पड़ा है, सो तो ऊपरी कवर है। वह गहराई तक बैठे हुए महारोग का लक्षण है। यह महारोग है–'रंग-द्वेष'। यदि मुझमें इस गहरे रोग को मिटाने की शक्ति हो तो उस शक्ति का उपयोग मुझे करना चाहिए।'' मन में निश्चित कर लिया मोहनदास ने। लड़ने का निश्चय मन में कष्ट सहने और मन को दृढ़ होने की शक्ति देता है। खैर, मोहनदास ने अपने संघर्ष की शुरुआत कर दी। सुबह होते ही मोहनदास ने रेलवे के जनरल मैनेजर को विरोधभरा तार भेजा। अब्दुल्ला सेठ को भी तार दिया। दिनभर मेरित्सबर्ग में बिताने के बाद रात की ट्रेन से चार्ल्सटाउन के लिए चल पड़े।

चार्ल्सटाउन

मोहनदास की ट्रेन 8 जून की सुबह चार्ल्सटाउन पहुँच गये। चार्ल्सटाउन छोटा-सा शहर है। यहाँ जूलू और अँग्रेजी भाषा बोली जाती है। 1891 ई. में रेलवे बनने से पहले डरबन और प्रिटोरिया के बीच सड़क ही यातायात का मुख्य साधन था। यह शहर लेइंगनेक पहाड़ी पर स्थित है।

चार्ल्सटाउन से जोहांसबर्ग जाने में ट्रेन की सुविधा नहीं थी। घोड़ागाड़ी यानी सिरकम से स्टैण्डरटन तक की यात्रा और वहाँ से जोहांसबर्ग। मोहनदास का सिरकम में पहले से आरक्षण था। पर कण्डक्टर (लीडर) ने टिकट रद्द होने की बात की। मोहनदास को सिरकम न ले जाना पड़े इसलिए उसने टाल-मटोल की नीति अपनायी। पर मोहनदास ने यात्रा के लिए टिकट वैध बताया। दरअसल मामला टिकट का नहीं रंग-भेद का था। कोच के भीतर गोरे यात्रा कर रहे थे। मोहनदास को अन्दर गोरों के साथ यात्रा नहीं करने दिया जा सकता था, क्योंकि मोहनदास कुली थे। बहुत हुज्जत के बाद मोहनदास को सफर करने की इजाजत मिली, पर बैठना था कोचवान के साथ कण्डक्टर की जगह। कण्डक्टर कोचवान की बगल वाली सीट पर बैठता था। वह कोच के अन्दर जाकर बैठ गया। सिरकम चल पड़ा। सिरकम तीन बजे पारडीकोप पहुँचा। कण्डक्टर को सिगरेट पीने की तलब लगी। उसने अपनी सीट पर बैठना चाहा। मोहनदास के लिए एक गन्दी बोरी का टुकड़ा कोच के पायदान पर बिछा दिया। मोहनदास को वहाँ बैठने को कहा। मोहनदास ने विनम्रता से वहाँ बैठने से मना कर दिया। इस बात पर कण्डक्टर भड़क गया। उसने मोहनदास की पिटाई की। कोच में बैठे लोगों के बीच-बचाव से उसने मोहनदास को छोड़ा और उनको अपनी जगह पर कोचवान के पास बैठने दिया।

स्टैण्डरटन

रात को सिरकम स्टैण्डरटन पहुँचा। स्टैण्डरटन वाल नदी पर बसी एक छोटी जगह है। स्टैण्डरटन में भारतीयों की आबादी थी। अब्दुल्ला सेठ ने यहाँ पर मोहनदास के आने की खबर दे दी थी। मोहनदास के निरीह मन को तब चैन मिला जब उन्होंने हिन्दुस्तानी भाइयों को देखा। हिन्दुस्तानी लोग मोहनदास को सेठ ईसा हाजी के पास ले गये। सेठ ईसा हाजी की सुरमे की दुकान थी। मोहनदास ने अपनी आपबीती सुनायी। सब लोग इस दुर्व्यवहार से बहुत दुखी हुए। मोहनदास ने कोच कम्पनी के एजेण्ट से दुर्व्यवहार की शिकायत की। एजेण्ट ने दुर्व्यवहार के खिलाफ कार्यवाही की। और आगे 9 जून की सुबह मोहनदास को स्टैण्डरटन से जोहांसबर्ग की यात्रा सिरकम से करने में कोई दिक्कत नहीं हुई। मोहनदास देर शाम जोहांसबर्ग पहुँच गये।

जोहांसबर्ग

9 जून को मोहनदास सिरकम से जोहांसबर्ग पहुँचे। जोहांसबर्ग प्रिटोरिया से 37 मील की दूरी पर स्थित है। यह शहर जनसंख्या की दृष्टि से दक्षिण अफ्रीका का बड़ा शहर है। यह गाउतेंग प्रान्त में स्थिति है। इसकी स्थापना 1886 ई. में हुई थी। 2 अक्टूबर 2003 को इस शहर में महात्मा गांधी की कांसे की बड़ी मूर्ति लगायी गयी है। आर्थिक रूप से सम्पन्न इस शहर के कई उपनाम हैं– मैबोनेंग (प्रकाश का शहर), गाउतेंग (स्वर्ण स्थान), जोबर्ग, जोजी, ऐगोली (स्वर्ण शहर)।

मोहनदास रात में जोहांसबर्ग पहुँचे थे। अब्दुल्ला सेठ ने जोहांसबर्ग में मोहनदास के आने की खबर कर दी थी। मोहनदास के पास मुहम्मद कासिम कमरूद्दीन का पता था। पर मोहनदास ने रात्रि की वजह से होटल जाने का विचार किया। गाड़ी वाले से ग्राण्ड नेशनल होटल चलने को कहा। वहाँ मोहनदास को जगह न मिली। फिर उन्होंने मोहम्मद कासिम के पते पर चलने को कहा। कासिम के यहाँ अब्दुल गनी सेठ भी मौजूद थे। अब्दुल्ला सेठ ने इनको भी मोहनदास के आने के सूचना दे दी थी। मोहनदास ने होटल में जगह न मिलने की बात बतायी। इस पर अब्दुल गनी सेठ ने कहा–वे हमें होटल में कैसे रहने दे सकते हैं। मोहनदास को आश्चर्य हुआ। अब्दुल गनी सेठ ने कहा– ''सो तो आप कुछ दिन रहने के बाद जान जाएँगे। इस देश में तो हमीं रह सकते हैं, क्योंकि हमें पैसा कमाना हैं। इसलिए नाना प्रकार के अपमान सहन करते हैं और पड़े हुए हैं।''

दक्षिण अफ्रीका चार उपनिवेशों में बँटा था। नेटाल, ट्रांसवाल, ऑरेंज फ्री स्टेट और केप कॉलोनी। जोहांसबर्ग ट्रांसवाल उपनिवेश के अन्तर्गत आता था। जोहांसबर्ग तेज रफ्तार का शहर है। मोहनदास ने इस शहर को बम्बई जैसा पाया। 'जोहांसबर्ग के नागरिक चलते नहीं अपितु दौड़ते–से मालूम होते हैं।' जोहांसबर्ग से मोहनदास को प्रिटोरिया जाना था जिसकी दूरी लगभग 37 मील थी। जोहांसबर्ग से प्रिटोरिया जाने के लिए रेल की सुविधा थी। परन्तु फिर वही समस्या सामने आ खड़ी हुई। मोहनदास रेल के पहले दर्जे में सफर करना चाहते थे। पर कुलियों को तीसरे दर्जे में सफर करने की अनुमति थी। मोहनदास

पहले दर्जे के टिकट पर यात्रा करने पर अड़े रहे। टिकट न मिल पाने की स्थिति में जोहांसबर्ग से प्रिटोरिया घोड़ा गाड़ी से जाने का निश्चय किया। प्रथम प्रयास के तहत मोहनदास ने जोहांसबर्ग के स्टेशन मास्टर से मिलने पहुँचे। स्टेशन मास्टर को मोहनदास का पत्र प्राप्त हो चुका था उसने मुस्कुराते हुए कहा मैं ट्रांसवालर नहीं, हॉलैण्डर हूँ। कुछ शर्तों के साथ मोहनदास को पहले दर्जे का टिकट मिल गया। मोहनदास की यात्रा जोहांसबर्ग से प्रिटोरिया के लिए शुरू हो गयी। रास्ते में जर्मिस्टन पहुँचने पर टिकट चेकर आया। मोहनदास को तीसरे दर्जे में जाने कहा। अँग्रेज सहयात्री के आपत्ति न होने के कारण पहले दर्जे में सफर कर सके। रात आठ बजे मोहनदास की ट्रेन प्रिटोरिया स्टेशन पहुँची।

सम्पर्क–मो. 9968875235

प्रसंगवश

राष्ट्रगान पर रार

डॉ. राजीव रंजन गिरि

राष्ट्रगान पर एक बार फिर सवाल किया गया है। इस बार राजस्थान के राज्यपाल कल्याण सिंह ने शुरू किया है। वे राजस्थान विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में मुख्य अतिथि थे। छात्र-छात्राओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने राष्ट्रगान में मौजूद 'अधिनायक' शब्द पर आपत्ति जाहिर की। उनका मानना है कि 'अधिनायक' शब्द इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज पंचम को सम्बोधित है। इसलिए यह शब्द हटा देना चाहिए। इसके स्थान पर 'मंगल' शब्द जोड़ देना चाहिए। कारण कि ब्रिटेन के राजा को सम्बोधित शब्द स्वतन्त्र देश के राष्ट्रगान में कैसे रह सकता है?

कल्याण सिंह ने अपनी आपत्ति का आधार नहीं बताया। उन्हें ऐसा क्यों लगता है कि राष्ट्रगान में प्रयुक्त यह शब्द ब्रिटेन के राजा के लिए है? यह उनकी धारणा है। यह मान्यता कैसे बनी, इसे जाहिर नहीं किया। उन्होंने इसके समर्थन में कोई तथ्य नहीं दिया।

कल्याण सिंह इकलौते नहीं हैं, जो ऐसा मानते हैं। राष्ट्रगान पर कई लोगों ने सवाल खड़े किये हैं। भिन्न-भिन्न दौर में। राजस्थान के राज्यपाल की आपत्ति उन प्रश्नों से जुड़ती है जो पहले उठाये जाते रहे हैं। भले ही कल्याण सिंह ने आधारहीन तर्क दिये हों, परन्तु पहले कई लोगों ने कुछ तथ्य भी पेश किये हैं। इसलिए राष्ट्रगान के इतिहास पर गौर करना होगा। देखना होगा कि 'जन गण मन' के ऐतिहासिक तथ्य क्या बताते हैं?

कवि गुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जन गण मन की रचना सन् 1911 में की थी। इसकी रचना की एक खास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। टैगोर 1905 के बंग-भंग आन्दोलन में सक्रिय रहे थे। इस आन्दोलन ने देश भर में राष्ट्रीय आन्दोलन के पक्ष में अलख जगाने का काम किया था।

सन् 1911 में देश की राजधानी दिल्ली स्थानान्तरित की गई। इस अवसर पर भव्य दिल्ली दरबार का आयोजन हुआ था। जिसमें ब्रिटेन के राजा जार्ज पंचम सप्तनीक मौजूद थे। बंग-भंग के खिलाफ आन्दोलन इतना व्यापक था कि जार्ज पंचम ने 12 दिसम्बर 1911 को बंग-भंग पर रोक लगा दी। नरम दल के नाम से ख्यात अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का तत्कालीन नेतृत्व इसके लिए जार्ज पंचम के प्रति शुक्रगुजार महसूस कर रहा था। कुछ दिनों के बाद काँग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन होने वाला था। सम्राट समर्थक काँग्रेस के लोगों की इच्छा थी कि काँग्रेस अधिवेशन में ब्रिटिश शासक के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की जाए। सम्राट को काँग्रेस अधिवेशन के बाद कलकत्ता भी आना था। उस अवसर पर आयोजित समारोह के आयोजकों की इच्छा थी कि सम्राट की वंदना में सुन्दर गीत पेश किया जाए। टैगोर की कीर्ति और प्रतिभा से बांग्ला का भद्रलोक भली-भाँति वाकिफ था। सम्राट-समर्थक आशुतोष चौधरी स्वागत-समारोह के एक कर्ता-धर्ता थे। वे टैगोर के मित्र भी थे। लिहाजा इन्होंने कवि-गुरू से इस अवसर के लिए एक गीत रचने की गुजारिश की।

इस निवेदन से टैगोर बेचैन हो गये। सम्राट पंचम की प्रशस्ति में गीत-रचना इनके कवि व्यक्तित्व के प्रतिकूल था। प्रबोधचंद्र सेन ने 'इंडियन नेशनल एंथम' में पर्याप्त शोधकर बताया है कि आशुतोष चौधरी की गुजारिश ने जो मानसिक उत्पात पैदा किया, उसकी सर्जनात्मक प्रतिक्रिया में 'जन गण मन' की रचना हुई। पाँच अंतरा के इस गीत में टैगोर ने उस शाश्वत सारथी की अभ्यर्थना की है जो मानव की नियति का संचालनकर्ता है। इसी सनातन सारथी के साथ राष्ट्र का उत्थान और पतन भी सम्बद्ध है। टैगोर ने इस गीत का संगीत भी बनाया। 26 से 28 दिसम्बर तक चले कलकत्ता काँग्रेस अधिवेशन में दूसरे दिन यह गीत प्रस्तुत हुआ। अधिवेशन के पहले दिन बंकिमचंद्र रचित 'वंदे मातरम्' और तीसरे दिन सरला देवी चौधरानी का गीत 'अतीत गौरवहिनी' गाया गया।

अधिवेशन के दूसरे दिन ही काँग्रेस ने सम्राट दम्पत्ति के प्रति कृतज्ञता प्रगट की। जार्ज पंचम के प्रति श्रद्धा-भाव रखनेवाले लोगों ने टैगोर रचित बंगला गीत का मर्म समझ लिया था। इसलिए उन्होंने सम्राट के सम्मान में रामानुज चौधरी की रचना 'बादशाह हमारा' छात्र-छात्राओं द्वारा प्रस्तुत कराया।

(जारी)

सम्पर्क–rajiv.giri19@gmail.com

‘अंतिम जन’ के प्रसार में सहायक बनें

हमें तलाश है ऐसे साथियों/वितरकों/दुकानदारों की, जो ‘अंतिम जन’ के प्रसार में सहायक बनें। ऐसे साथी/वितरक/दुकानदार, जो अंतिम जन का पाठक बनाएंगे तथा पत्रिका बेचेंगे, उन्हें गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति उचित कमीशन देगी।

इच्छुक व्यक्ति/संस्थान पत्रिका तथा सदस्यता प्रोफार्मा मँगवाने के लिए संपर्क करें :

प्रधान संपादक

‘अंतिम जन’ मासिक पत्रिका

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 011-23392709, 23302710 फैक्स : 011-23302706

ई-मेल : antimjangsds@gmail.com, 2010gsds@gmail.com

'अंतिम जन' की सदस्यता लें

इच्छुक व्यक्ति/संस्थान कृपया नीचे दिये गये प्रोफॉर्मा को भरकर (शुल्क) राशि (चेक/ड्राफ्ट) सहित निम्नलिखित पते पर भेजें :

प्रधान संपादक

'अंतिम जन' मासिक पत्रिका

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110002

आप हमसे संपर्क कर सकते हैं :-

दूरभाष : 011-23392709, 23302710 फैक्स : 011-23302706

ई-मेल : antimjangsds@gmail.com, 2010gsds@gmail.com

'अंतिम जन' मासिक पत्रिका

(सदस्यता प्रपत्र)

मैं गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति द्वारा प्रकाशित अंतिम जन मासिक पत्रिका (हिन्दी), का/की पाठक-सदस्य .... वर्ष / वर्षों के लिए बनना चाहता / चाहती हूँ।

	वर्ष	रुपये
[ ]	एक प्रति शुल्क	10/-
[ ]	सालाना	100/-
[ ]	दो साल	200/-
[ ]	पाँच साल	400/-

.... बैंक चेक संख्या / डिमान्ड ड्राफ्ट संख्या .... दिनांक ....

राशि .... Director, Gandhi Smriti & Darshan Samiti, New Delhi में देय, संलग्न है।

सदस्य का नाम (स्पष्ट अक्षरों में) : ....

व्यवसाय : ....

संस्थान : ....

पता : ....

....

पिन कोड : ....

राज्य : ....

दूरभाष (कार्यालय) .... निवास .... मोबाइल ....

ई मेल : ....

हस्ताक्षर ....

नोट :- सभी भुगतान चेक (स्थानीय)/डिमान्ड ड्राफ्ट द्वारा Director, Gandhi Smriti & Darshan Samiti, New Delhi के नाम से, नई दिल्ली में, देय होने चाहिये।